उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—२ अगस्त, १९८३ अंक—८

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५१ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

तुम समाज-सुधार करना चाहते हो? ठीक है, यह तुम भगवत्प्राप्ति करने के बाद भी कर सकोगे। स्मरण रखो कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए प्राचीनकाल के ऋषियों ने संसार को त्याग दिया था। भगवत्प्राप्ति ही सब से अधिक आवश्यक वस्तु है। यदि तुम चाहो तो तुम्हें अन्य सभी वस्तुएँ मिल जाएँगी। पहले भगवत्प्राप्ति कर लो, फिर भाषण, समाज-सुधार आदि को सोचना।

(२)

मनुष्य की देह मानो एक हांड़ी है और मन, बुद्धि, इन्द्रियां मानो पानी, चावल और आलू। हांड़ी में पानी, चावल और आलू छोड़कर उसे आग पर रख देने से वे तप्त हो जाते हैं और अगर कोई उन्हें हाथ लगाए तो उसका हाथ जल जाता है। वास्तव में जलाने की शक्ति हांड़ी, पानी, चावल या आलू में से किसी में नहीं है, वह तो उस आग में है; फिर भी उनसे हाथ जलता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर विद्यमान रहनेवाली ब्रह्मशक्ति के कारण ही मन, बुद्धि, इन्द्रियां कार्य करती हैं, और जैसे ही इस ब्रह्मशक्ति का अभाव हो जाता है वैसे ही ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं।

(३)

बद्ध जीव मगर की तरह होते हैं। मगर की देह पर शस्त्र द्वारा वार करने पर शस्त्र छिटककर गिर पड़ता है, मगर को कुछ नहीं होता; सिर्फ पेट पर वार करने पर ही वह मरता है। इसी तरह, बद्ध जीव को कितना भी धर्मोपदेश दो, कितनी भी ज्ञान वैराग की बातें सुनाओ, उसके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसके लिए तो उसकी आसक्ति के विषयों पर ही प्रहार करना पड़ेगा।

श्री सारदादेवी स्त्रोतम्

—स्वामी अभेदानन्द

प्रकृतिं परमामभयां वरदां
नररूप धरां जनतापहराम् ।
शरणागत—सेवक—तोषकरीं
प्रणमामि परां जननीं जगताम् ।१।

गुणहीन-सुतानपराधयुतान्
कृपयाऽद्य समुद्धर मोहगतान् ।
तरणीं भवसागरपारकरीम्
प्रणमामि परां जननीं जगताम् ।२।

विषयं कुसुमं परिहृत्य सदा
चरणाम्बुरुहासृत शान्तिसुधाम् ।
पिब भृङ्ग मनो भवरोग हरां
प्रणमामि परां जननीं जगताम् ।३।

कृपां कुरू महादेवि, सुतेषु प्रणतेषु च ।
चरणाश्रयदानेन कृपामयि, नमोऽस्तु ते ।४।

लज्जा पटावृते नित्यं सारदे ज्ञानदायिके ।
पापेभ्यो नः सदा रक्ष कृपामयि नमेऽस्तु ते ।५।

रामकृष्णगत प्राणां तन्नाम श्रवणप्रियाम ।
तद्भावरंजिताकारां प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।६।

देवीं प्रसन्नां प्रणतार्तिहन्त्रीं
योगीन्द्रपूज्यां युगधर्मपात्रीम् ।
तां सारदां भक्ति विज्ञान दात्रीं
दयास्वरूपां प्रणमामि नित्यम् ।८।

स्नेहेन बध्नासि मनोऽस्मदीयं
दोषानशेषान् सगुणीकरोपि ।
अहेतुना नो दयसे सदोषान्
स्वाङ्के गृहीत्वा यदिदं विचित्रम् ।९।

प्रसीद मातर्विनयेन याचे
नित्यं भव स्नेहवती सुतेषु ।
प्रेमैक विन्दुं चिर दग्ध चित्ते
विषिञ्च चित्तं कुरु नः सुशान्तम् ।१०।

जननीं सारदां देवीं रामकृष्णं जगद्गुरुं
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।११।

भावार्थ :—श्रीसारदा देबी परमा प्रकृति तथा अभय और आनन्द दायिनी हैं ।वे वर देने वाली तथा मनुष्य का रुप धारणकर जीवों के त्रयतापों का नाश करनेवाली हैं । वे आश्रित सेवकों को तोष प्रदान करती हैं । ऐसी जगज्जननी सारदा देवी को मैं प्रणाम करता हूँ ।१।

इस अपराधी गुणहीन पुत्र का माया मोह से कृपापूर्वक उद्धार कीजिए। मेरी नाव को भवसागर से पार कीजिए। मैं जगज्जननी सारदा माँ को प्रणाम करता हूँ ।२।

विषयरूपी कुसुम का परित्यागकर सदा माता के चरणकमल की शान्ति-सुधा का हे मनभृंग, तुम पान करो। इससे संसार-रोग दूर होगा। ऐसी जगज्जननी माँ सारदा को मैं प्रणाम करता हूँ ।३।

हे महादेवी, प्रणत सन्तान को अपना चरणाश्रय देकर कृपा कीजिए। आपको मेरा प्रणाम है ।४।

हे सारदे, आप ज्ञान दायिनी तथा सदा लज्जा रूपी वस्त्र से आवृत हैं। हे कृपामयी पापों से हमारी रक्षा कीजिए। आपको नमस्कार करता हूँ।

हे मातः ! आपका हृदय रामकृष्णमय है। उनका नाम-श्रवण आपको प्रिय लगता है तथा उनके भाव में ही आप रंगी हुई हैं। आपको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ।६।

जिनका चरित्र तथा जीवन पवित्र है, जो पवित्रता की स्वरूपिणी हैं, ऐसी जगज्जननी सारदा देवी को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ।७।

जो देवी सदा प्रसन्न हैं और प्रणत व्यक्ति का दुःख नाश करनेवाली हैं, जो योगीन्द्रों के द्वारा पूजित हैं तथा युगधर्म की सुरक्षा करनेवाली हैं, ऐसी भक्ति-विज्ञान दात्री, दयास्वरूपिणी माँ सारदा को मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ।८।

आपने स्नेह में हमलोगों के चित्त को बाँध लिया है, हमारे सारे दोषों को आप गुण में बदल देती हैं, सारे दोषी व्यक्तियों को अपनी गोदी में धारण कर लिया है, आपकी इस अहेतुकी कृपा को कौन समझ सकता है ।९।

हे जननि, हम सविनय प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जायँ और पुत्रों के प्रति सदा स्नेह प्रदर्शन करें। हमारे चिर दग्ध चित्त में एक बिंदु प्रेम का सिंचन कीजिए और हमारे चित्त को शान्त कीजिए ।१०।

जननी सारदा देवी तथा जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण के चरण-कमलों को मैं हृदय में धारणकर बार-बार प्रणाम करता हूँ ।११।

सम्पादकीय सम्बोधन

भागो नहीं, बदलो

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक कालेज में छात्र संघ का चुनाव हो रहा था। उस कॉलेज के एक प्रोफेसर की लड़की ने जो उसी कॉलेज की छात्रा थी, किसी एक उम्मीदवार छात्र के पक्ष में अपना वोट दिया। वह छात्र एक वोट से ही विजयी हुआ। पराजित छात्र ने उसी शाम को उस छात्रा के प्रोफेसर पिता पर छुरों से आक्रमण कर दिया। उसका तर्क यह था कि वह जिस एक वोट से हारा वह उसी प्रोफेसर की लड़की का वोट था। अपना क्रोध उसने उस प्रोफेसर पर छुरों का आक्रमण कर शान्त किया।

एक प्रोफेसर के क्लास में कई बाहरी युवक आ घुसे थे। प्रोफेसर के कहने पर भी जब वे युवक वर्ग से नहीं निकले तब प्रोफेसर ने ही वर्ग छोड़ दिया। और फिर क्रुद्ध छात्रों में से कुछ ने आकर उस प्रोफेसर पर डंडे चला दिये।

एक बैंक में किसी दूकान का कर्मचारी कुछ रुपये जमा करने गया था। बैंक के फाटक पर ही एक युवक ने गोली उस पर चला दी। और वह व्यक्ति अस्पताल में मर गया।

एक थाने में कुछ सिपाहियों ने किसी आदिवासी युवती के साथ सामूहिक बलात्कार किया।

एक प्रोफेसर विश्वविद्यालय परीक्षा के केन्द्रीय मूल्यांकन कक्ष में अपने प्रिय छात्रों का अंक बढ़वाने की प्रक्रिया में पकड़ा गया।

किसी अदना-सी बात पर दो सम्प्रदायों या दो जातियों में भयंकर मार-काट हुई।

दुर्गा पूजा के लिए सड़क रोक कर आती-जाती गाड़ियों के मालिकों से चन्दा वसूलने के क्रम में एक पुलिस की गाड़ी पर सवार एक सिपाही की, एक गाँव के कुछ युवकों ने, चन्दा नहीं देने के कारण, कुदाल चलाकर हत्या कर दी।

किसी ट्रेन या बस के मुसाफिरों को कुछ आतंकवादियों ने बंदूक या रिवाल्वर का भय दिखाकर लूट लिया।

दहेज नहीं मिलने के कारण किसी युवक ने अपनी गर्भवती पत्नी को जलाकर मार दिया।

ऐसी घटनाएँ रोज ही देखने-सुनने को मिलती हैं। किसी भी दिन का अखबार उलटने पर ऐसी खबरें भरी-पड़ी मिल जाती हैं। और शर्म से हमारा माथा झुक जाता है। यह मानने में लाज लगने लगती है कि ऐसा कृत्य करनेवाले हमारे ही देश के—उस देश के जिसकी एक लम्बी धार्मिक-आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परम्परा रही है—नागरिक हैं।

आखिर क्या हो गया है हमको? क्यों हम इतने उद्भ्रांत, दिशा हीन, पथ भ्रष्ट और विक्षिप्त हो गये हैं? क्यों हम इतने तनाव, उत्तेजना और आक्रोश में जीने को अभिशप्त हो गये हैं? राम की सहिष्णुता, कृष्ण का प्रेम, बुद्ध की करुणा, कबीर-नानक की शीलवंतता, रामकृष्ण की अनासक्ति, विवेकानन्द का कठोर त्याग और गांधी की अहिंसा हमारी नसों में बहती हुई रक्त-धारा के ताप से क्यों वाष्प बन कर उड़ गयी हैं? क्या हम उनकी संतान कहाने के योग्य भी रह गये हैं? और अगर नहीं, तो क्यों?

मुझे लगता है कि हमारी सारी विकृतियों, सारी अभद्रताओं, सारी दुरीतियों और सारी बीमारियों के मूल में जो सबसे बड़ा कारण है, वह—यह कि आज के माहौल में हम सब भाग रहे हैं, बड़ी तेजी से भाग रहे हैं, स्वयं अपने से, अपने 'स्व' से, अपने यथार्थ स्वरूप

से, अपने परम चिन्मय आनन्दघनात्मक मूल रूपसे। और यह भागने की प्रक्रिया जब तक चलती रहेगी, अपने स्वरूप से मुँह फेरने की स्थिति जबतक बनी रहेगी, हम यह सब करते रहेंगे, बल्कि और तेजी से करते रहेंगे, जो आज हम कर रहे है।

'स्व' के सुधा-सरोवर से भागकर हम अहं के अग्नि-कुण्ड में गिरते हैं।

'आत्म' के आलोक से भागकर हम घृणा, क्रोध और हिंसा के अंधकार में प्रवेश करते हैं।

अपने मूल स्वरूप से भागकर हम दुष्कर्मों के पंक में आकंठ धँस जाते हैं।

अपने सत्य से मुँह फेरकर हम अनेकानेक कुकृत्यों के—एक भयंकर असत्य के जाल के—आलिंगन में आबद्ध हो जाते हैं।

इतिहास साक्षी है कि जिस किसी ने अपने मूल स्वरूप से भागने का प्रयास किया उसी ने अपने लिए आत्मघाती कृतियों का पहाड़ निरज लिया।

रावण ने अपने मूल स्वरूप का परित्याग कर दिया था। वह अपने यथार्थ से भाग खड़ा हुआ था। और परिणाम यह हुआ कि वह ऋषियों-मुनियों के यज्ञों का ध्वंस करने लगा। उनके रक्त का शोषण करने लगा। पर-नारी का अपहरण करने लगा। और अन्त में वह राम के बाण का शिकार हुआ।

पंचवटी में सीता के सामने लक्ष्मण ने एक रेखा खींच दी थी। उस रेखा का अतिक्रमण नहीं करने का अनुनय लक्ष्मण ने सीता से किया था। यह लक्ष्मण-रेखा 'स्व' की, आत्म-मर्यादा की, आत्मस्वरूप की ही मानो एक सीमा रेखा थी। उसका अतिक्रमण करने से, उस रेखा को लाँघने से, उस सीमा से भागने से संकट का होना स्वाभाविक था। सीता लक्ष्मण-रेखा को लाँघ गयी और स्वभावतः रावण के द्वारा उसका हरण हो गया।

कुरुक्षेत्र के धर्म-युद्ध में अर्जुन अपने स्वरूप से भागने लगा था। उसने युद्ध न करने के अनेक पांडित्यपूर्ण तर्क दिये थे। लेकिन कृष्ण थे जो उसे बार-बार समझा रहे थे—अर्जुन, अपने स्वधर्म को पहचानो, स्वधर्म चाहे कैसा भी क्यों न हो, उससे भागो मत। पर धर्म का अवलम्बन न करो।' लेकिन अर्जुन जल्दी कृष्ण के सत्परामर्श को मानने को तैयार नहीं था। अपने स्वरूप से भागनेवाला हर प्राणी विवेक की वाणी को सहज ही स्वीकार नहीं करता। अर्जुन भी नहीं कर रहा था। लेकिन जब कृष्ण ने उसे अपने रूप की पहचान करायी तो वह सँभल गया। वह भाग रहा था। लेकिन उसने भागना छोड़ कर अपने को बदल लिया। वह बोल उठा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (१८।७३)

'हे कृष्ण, आपकी कृपा से मेरा मोह समाप्त हो गया है, अब मुझे (अपने मूल स्वरूप की) स्मृति (पहचान) हो गयी है। इसलिए; मैं संदेह-रहित हो गया हूँ, निःसंशय हो गया हूँ और अब वही करूँगा जो आपने कहा है।' यह बदले हुए अर्जुन की वाणी है। गीता के प्रथम अध्याय का अर्जुन अपने से भागता हुआ अर्जुन है और गीता के अट्ठारहवें अध्याय का अर्जुन ठहरा हुआ (स्थितोऽस्मि) यानी बदला हुआ अर्जुन है। अर्जुन अब ठहरा हुआ इसलिए है कि उसे अपने आत्मस्वरूप की पहचान हो गयी है। वह जान गया है कि उसका मूल रूप अविनाशी है, अनश्वर है, अतः आनन्दमय है, शोक-रहित है। इसलिए वह अब कोई कोई भी कर्म केवल कर्म की दृष्टि से करनेवाला एक निमित्त मात्र है। जो निमित्त है, उस पर कर्म का फल नहीं आता। कलम से जो कुछ लिखा जायगा उसका फल कलम पर नहीं आयेगा, लेखक पर आयेगा। कलम तो निमित्त है। लेखक उससे गीता का श्लोक लिखा ले या अपशब्दों की सूची तैयार करा ले। कलम को क्या! अर्जुन इस रहस्य को समझ गया है। इसलिए वह बदल गया है।

जब हम बदल जाते हैं, यानी स्थित हो जाते हैं यानी अपने स्वरूप में होते हैं, 'स्व' में स्थिर हो जाते हैं तब हम कोई दुष्कर्म नहीं कर सकते। हमारी हर साँस तब भद्रता का संगीत हो जाती है, हमारी हर क्रिया तब कल्याण की मंदाकिनी बन जाती है, हमारा हर डेग लोक-

मंगल की दिशा में उठकर एक कस्तूरी गंध बिखेर देता है। **'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।'** जो अपनी आत्मा में रमण करते हैं वे विषयों की (दुष्कृतियों की) मृगतृष्णा में भ्रमण नहीं करते। और जो लोक-मंगल के लिए ही आचरण करते हैं, वे स्वयं कभी दुर्गति में नहीं पड़ते। **'न हि कल्याण कृत कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।'** कल्याण कर्मियों की कभी दुर्गति नहीं होती।

गौतम जब एक बूढ़े, एक रोगी और एक मृतक को देखकर अधीर हो गये थे, विचलित हो गये थे, तब मानो वे सत्य से भाग रहे थे। लेकिन जब इनसे मुक्ति पाने के लिए वे अपनी परमरूपवती पत्नी, सुकुमार पुत्र और विशाल राज्य-पाट का परित्याग कर चल पड़े तब मानो उन्होंने अपने में बदलाव की प्रक्रिया शुरू कर दी। और जब वे बुद्ध हो गये तब वे बदल गये। बुद्ध ठहरी हुई बुद्धि का नाम है। वे 'स्थितोऽस्मि' की अवस्था में आ गये थे। उन्हें 'स्व' की पहचान हो गयी थी। इसलिए जब दस्युराज अंगुलिमाल ने घने जंगल में एकाकी यात्रा करते हुए बुद्ध को गरज कर कहा--ठहर जाओ, नहीं तो मैं हत्या कर दूंगा तुम्हारी' तब बुद्ध ने क्या कहा ?— 'अंगुलिमाल ! मैं तो कब का ठहरा हुआ हूं। ठहरना तो तुम्हें हैं।' मैं तो कब का ठहरा हुआ हूं अर्थात् मैं तो कब का बदला हुआ हूं; ठहरना तो तुम्हें हैं अर्थात् बदलना तो तुम्हें है। कहते हैं, बदले हुए, ठहरे हुए बुद्ध की वाणी ने अंगुलिमाल पर जादू का कार्य किया और उसने अपने अस्त्र-शस्त्र बुद्ध के चरणों पर डाल दिये। वह उनका अनुगत हो गया। अंगुलिमाल जब तक लोगों की हत्या में लगा रहा तब तक वह असल में भागता रहा, दौड़ता रहा। भागता रहा अपने से, दौड़ता रहा अपनी ओर पीठ देकर। जब बुद्ध ने उसे कहा था—'ठहरना तुम्हें है' तब उनका इशारा इसी बात की ओर था कि अपने स्वरूप को पहचानो, अपने को रू-ब-रू आमने-सामने होकर देखो, बुद्ध की शरण में आया हुआ अंगुलिमाल बदला हुआ अंगुलिमाल था।

हमें भी अपने को बदलना होगा। कब तक आखिर भागते रहेंगे हम अपने से ? प्रोफेसरों पर कातिलाना हमला करनेवाले छात्र, युवती का सामूहिक बलात्कार करनेवाले पुलिसकर्मी, ट्रेन और बस के यात्रियों को लूटनेवाले दिग्भ्रांत युवक, रास्ता रोककर चंदा वसूलनेवाले नागरिक, दहेज की कमी के कारण नववधू को जिन्दा जलानेवाले लोग— ये सब-के-सब भाग ही तो रहे हैं, अपने स्वरूप से, अपने यथार्थ से, अपने सत्य से।

क्यों हम भाग रहे हैं अपने से, अपने स्वरूप से ? गहराई में जाने से लगता है कि इसके मूल में है काम-कांचन के प्रति हमारी तीव्र आसक्ति। श्रीरामकृष्ण काम-कांचन से बचने का उपदेश प्रायः ही अपने शिष्यों को देते रहते थे। वे कहा करते थे—'कामिनी-कांचन ही मनुष्य को संसार में डुबो रखते हैं।—यदि जीव के मन में से काम-कांचन की आसक्ति मिट गयी तो फिर उसके लिए शेष ही क्या रह गया ?—केवल ब्रह्मानन्द !' श्रीरामकृष्ण के उपर्युक्त उपदेश को अमल में लाने की अपने जीवन में उतारने की आज जितनी जरूरत है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी।

ऐसा नहीं है कि श्रीरामकृष्ण गृहस्थों को पत्नी से ही अलग-थलग हो जाने या उससे घृणा करने को कहते थे अथवा जीवन-यापन के लिए भी अर्थ की व्यर्थता की घोषणा करते थे। नहीं। वे तो अपनी पत्नी को अशेष अनुराग देने और शुद्ध माध्यम से अर्थोपार्जन कर जीवन-यापन करने की प्रेरणा ही देते थे। लेकिन हां, काम और कांचन को जीवन का सर्वस्व, जीवन का मूल दर्शन मानने की मनाही वे अवश्य करते थे। आज हमारे देश और समाज में हिंसा रक्तपात, लूट-खसोट, भ्रष्टाचार, कदाचार, पापाचार और दुराचार की जितनी घटनाएं घटित हो रही हैं उनके मूल में काम-कांचन का जीवन-दर्शन ही तो काम कर रहा है ! सच पूछिए तो कांचन की वर्चस्वता हो गयी है। क्योंकि कांचन से काम की पूर्ति आसानी से आज होने लगी है। हम कल की अपेक्षा आज और आज की अपेक्षा अभी ही मालामाल हो जाना चाहते हैं—चाहे जिस तरीके से हो, येन-केन-प्रकारेण।

अर्थ की महत्ता ने नैतिकता की व्यर्थता घोषित कर दी है। अक्सर लूटपाट करनेवाले गरीब नहीं, बल्कि धनिकों के पुत्र हुआ करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं ?

क्योंकि उन्हें जितने रुपये मिलते हैं उनसे अधिक, और अधिक वे चाहते हैं। बड़ी दिलचस्प बात यह है कि ऐसे युवकों के पास जो प्रेम-पत्र उपलब्ध होते हैं उनमें उनकी प्रेमिकाओं की ओर से सोने-हीरों के आभूषणों की मांग रहती है और प्राप्त आभूषणों के लिए धन्यवाद ज्ञापित हुआ रहता है। अर्थात् मूल में है कंचन। कंचन के दर्शन ने, रुपयों की दुर्बलता ने हमारी मति हर ली है, हमारी गति हर ली है। अर्थ की आसक्ति हमें स्थिर नहीं होने देती। रुपयों का लोभ हमें अपने को बदलने नहीं देता; अपने निज-स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होने देता। कंचन का कोलाहल हमें ऊँची चेतना से जुड़ने नहीं देता।

पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी
मेरे पग पीछे जाते हैं ऐसी मेरी गति हारी
तुमसे सदा छिपाता आया मैं जीवन की कमजोरी
तुम्हें नहीं संचित कर पायी मेरी चंचलता भोरी
सदा बटोरे फिरा हृदय में मैं प्रमाद की अस्थिरता
मेरे भीतर सदा रहा संदेहों का बादल घिरता
डसती रहीं मुझे रह-रह अपनी असफलताएँ सारी
पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी।

जब तक हम अपने को बदलते नहीं, हमारी हर यात्रा उल्टी हो जाती है। हमारी हर गति हमें पीछे की ओर धकेल देती है। जब तक हम अपने को बदलते नहीं, हम सरल नहीं हो पाते। हमारी कुटिलता हमें अपनी दुर्बलता, अपनी कमजोरी भी प्रकट नहीं करने देती। समाज में हम अपने को ठीक-ठाक दिखाना चाहते हैं। भीतर से हम बीमार रहते हैं। बलात्कारी और दुराचारी सदाचारी के रूप में अपने को दर्शित करना चाहता है। वह काम-कांचन के रोग से ग्रस्त होकर दुनिया भर के कुकर्म करता फिरता है, मदांध और अविवेकपूर्ण आचरण करता फिरता है और चाहता है कि समाज में उसकी प्रतिष्ठा भी बर-करार रहे। यह दुहरापन आज और भी हमें डंसने लगा है। हमारा विश्वास खंडित हो गया है, कामनाएँ ज्वार उठा रही हैं, लालसाएँ आग की लपटें बुन रही हैं, स्नेह और समर्पण, श्रद्धा और भक्ति हमसे नाता तोड़ बैठी हैं। हम एक गहरे अंधेरे में रोशनी की एक भ्रामक कल्पना कर जीने को अभिशप्त हो गये हैं। कैसी विवशता है, है, कैसी विडम्बना है?

डिगती रही कामना मेरी, रह न सका विश्वास अचल
तुम तक पहुँच नहीं पाता है मेरे प्राणों का संबल
तुमने अपना स्नेह भरा पर जल न सका मेरा अंतर
कभी समर्पण के दीपक में ज्योति नहीं जागी पल भर
कभी न सपने में भी मुझसे छूटी मेरी अँधियारी
पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी।

आखिर कामिनी और कांचन के प्रति ऐसी और इतनी आसक्ति आज हममें क्यों उभर आयी है? ऐसा क्यों है कि हम काम-कांचन की पूर्ति के लिए आज तमाम मूल्यों तमाम नैतिक आदर्शों और तमाम आचार-संहिताओं का होलिका-दहन करने लगे हैं? बात यह है कि हम अपने मूल से कटते जा रहे हैं— बड़ी तेजी से। अपनी ऊँची धार्मिक आध्यात्मिक विरासत से बिना रस लिये हुए हम अपने जीवन-तरु को विकसित करना चाहने लगे हैं। यह संभव नहीं है। हम अपनी भूमि से कट कर बहुत दिनों तक चल नहीं सकते, जी नहीं सकते। ताजा कटा हुआ पेड़ भी दो-चार दिनों तक हरा-भरा दीखता है। पर यह हरियाली एक भयंकर शुष्कता अपने भीतर छिपाए है। हम अपनी परम्परा से कटकर कुछ-दिनों तक चमक सकते हैं। लेकिन यह चमक हमारे संपूर्ण रूप से सूख जाने का घोषणा पत्र ही तो है! नहीं, हमें काम-कांचन की अत्या-सक्ति से बचना होगा अपने मूल रूप को पहचानना होगा, अपने से भागने की आत्मघाती साजिश से बचकर अपने को बदलने के लिए कमर कस कर आबद्ध होना ही होगा।

कैसे बदल सकते हैं हम अपने को? एक ही उपाय है उसका और वह है स्वविवेक का आदर करना। अपने विवेक का आदर कर हम अपना रूपान्तरण कर सकते है। क्या विवेक किसी पर कातिलाना हमला करने, किसी के साथ बलात्कार करने, किसी को लूटने, किसी की हत्या करने की इजाजत देता है? अगर नहीं, तो यह काम हम त्रिकाल में भी क्यों करें? क्या विवेक हमें स्वधर्म का त्याग करने की आज्ञा देता है? अगर नहीं; तो हम ऐसा

क्यों करें ? और स्वधर्म है क्या ? नीचे से ऊँचे की ओर निम्न से ऊर्ध्व की ओर उठने का प्रयास ही तो स्वधर्म है ? स्वामी विवेकानन्द ने बड़े ओजस्वी और मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा है—"निम्न को त्यागो, जिससे कि तुमको उच्च प्राप्त हो सके। समाज का आधार क्या है ? नैतिकता, सदाचार, नियम। त्यागो! अपने पड़ोसी की सम्पत्ति हथियाने की, अपने पड़ोसी पर चढ़ बैठने की सारी लालसा को, दुर्बलों को यातना देने के सारे सुख को, झूठ बोलकर दूसरों को ठगने के सारे सुखों को त्यागो। क्या नैतिकता समाज का आधार नहीं है ? विवाह व्यभिचार-त्याग के अतिरिक्त और क्या है ? बर्बर विवाह नहीं करते। मनुष्य विवाह करता है, क्योंकि वह त्यागता है। यह क्रम इसी प्रकार चलता जाता है। त्यागो! त्यागो! बलि दो! छोड़ दो! शून्य के लिए नहीं। न कुछ के लिए नहीं। वरन् ऊँचा उठने के लिए। पर यह कौन कर सकता है ? तुम यह उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि तुम ऊँचे नहीं उठ जाते। तुम बातें कर सकते हो। तुम संघर्ष कर सकते हो। तुम बहुत-सी बातें करने का प्रयत्न कर सकते हो। पर जब तुम ऊँचे उठ जाते हो, तो वैराग्य स्वयं आ जाता है। तब न्यूनतर स्वयं छूट जाता है।"[1]

हम अनेक दुष्कर्म इसलिए भी कर बैठने हैं कि हम यह मानते हैं कि शरीर सत्य और नित्य है। फिर इस शरीर के सुख के लिए कुछ भी क्यों न करें। मगर विवेक से यही सिद्ध होता है कि न तो शरीर नित्य है और न हम शरीर हैं। "महान् पुरुषों की मृत्यु हुई है। दुर्बलों की मृत्यु हुई है। देवताओं की मृत्यु हुई। मृत्यु—सब ओर मृत्यु। यह संसार अनन्त अतीत का कब्रिस्तान है, फिर भी हम इस (शरीर) से चिपटे रहते हैं: "मैं कभी मरनेवाला नहीं हूँ"। हम निश्चित रूप से जानते हैं (कि शरीर को मरना होगा) और फिर भी इससे चिपटे हुए हैं। पर इसमें भी एक अर्थ है (क्योंकि एक अर्थ में हम नहीं मरते)। गलती यह है कि हम शरीर से चिपटते हैं, जब कि जो आत्मा है, वह वास्तव में अमर है।"[2]

अब अगर आत्मा अमर है तो उस पर विचार होना चाहिए। उस पर ध्यान करना चाहिए और आत्मा की अमरता का अनुभव कर लेना चाहिए। और जब आत्मा की अमरता का अनुभव हो जायगा तब क्या हम शरीर और उसके सुखों के पीछे दौड़ते फिरेंगे और उन सुखों के लिए अनेक कर्म-कुकर्म करते रहेंगे ? हमें सोचना चाहिए कि "अधिक ऊँचा क्या है, उन वस्तुओं के पीछे दौड़ना जो नाशवान हैं अथवा......उसकी पूजा करना, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता ? क्या अधिक व्यावहारिक है, वस्तुओं को प्राप्त करने में जीवन की सारी शक्तियों का व्यय करना, जिनको प्राप्त करने से पहले ही मृत्यु आ जाती है, और तुमको उन सबको छोड़ देना होता है ?—उस महान् (राजा) की भाँति, जिसने सब जीत लिया था। जब मौत आयी, तो उसने कहा, "सब वस्तुओं के कलसों को मेरे सामने फैलाओ।" उसने कहा, "उस बड़े हीरे को मुझे दो।" और उसने उसे अपनी छाती पर रखा और रो पड़ा। इस प्रकार वह रोते हुए मरा, वैसे ही, जैसे कुत्ता मरता है।"[3]

स्वभावतः हमें आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने के लिए तत्पर हो जाना होगा। "आत्मा की अनुभूति आत्मा के रूप में करना व्यावहारिक धर्म है। अन्य सब बातें वहीं तक ठीक हैं, जहाँ तक वे इस महान् लक्ष्य की ओर ले जाती हैं। इस (अनुभूति) की प्राप्ति की जाती है त्याग से, ध्यान से—सब इन्द्रिय सुखों के त्याग से, उन ग्रंथियों और शृंखलाओं को काटकर जो हमें भौतिकता में बाँधती हैं। 'मैं भौतिक जीवन नहीं चाहता, वरन् कुछ ऊँची वस्तु चाहता हूँ'। यह त्याग है। तो ध्यान की शक्ति से उस अनिष्ट का निराकरण करो, जो हो चुका है।"[4]

मुझे लगता है कि आज का मनुष्य, विशेषकर युवक यदि प्रति दिन मात्र दस मिनट भी ध्यान पर बैठने की चेष्टा करे तो वह उन तमाम कुंठाओं, तनावों और कुभावों से बच सकता है जो उन्हें नाना प्रकार के दुष्कर्म करने को प्रेरित करते हैं।

---

१. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० १७६
२. वही : वही : पृ० वही
३. वही : वही : पृ० १७९
४. वही : वही : पृ० वही

यह सच है कि संसार में दुःख है। और दुःख भी मनुष्य को अविवेकितापूर्ण कार्य करने को कभी-कभी बाध्य कर देता है। लेकिन यह भी सच है कि जब तक संसार है तब तक सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, भद्र-अभद्र शिव-अशिव आदि भी रहेंगे ही। हमें इनके बीच समरस रहने की कला या विज्ञान जानना ही होगा। हमें सुख और दुःख के बीच एक ही सत्ता, एक ही शक्ति को कार्यरत देखने की दृष्टि बनानी होगी। अतः स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे—"निर्भीक बनो, तथ्यों का सामना तथ्यों की भाँति करो। अशुभ के भय में विश्व में इधर-उधर न भागो '——सुख आयेगा—बहुत ठीक ; कौन रोकता है ? दुःख आयेगा : उसका भी स्वागत है।—वीर होने का अर्थ है, माँ (परम सत्ता) में विश्वास। यह माँ है, जिसकी छाया जीवन और मृत्यु है। सब सुखों का सुख वही है। सब दुःखों में दुःख वही है। यदि जीवन आता है, तो वह माँ है; यदि मृत्यु आती है, तो वह माँ है। यदि स्वर्ग आता है, तो वहाँ वही है, यदि नरक आता है, तो वहाँ माँ है; गोता लगाओ। हम में विश्वास नहीं है, हममें यह देखने का धैर्य नहीं है।"[५] और जब तक यह विश्वास, यह धैर्य नहीं आता हममें, तब तक हम अपने से भागते रहेंगे। और जबतक हम अपने से भागते रहेंगे, तब तक हम बदलेंगे नहीं। और जब तक हम अपने आप को बदलेंगे नहीं, तब तक हम सुख-दुःख के झूलों पर झूलते हुए आत्मघाती, समाज-विरोधी, अनैतिक और अशुभ-अभद्र आचरण करते ही रहेंगे। इसी से मैं आप सब से, प्रत्येक व्यक्ति से कहता हूँ—भागो नहीं, बदलो।

मैं जानता हूँ मित्रो, आपमें से कुछ कहेंगे—"न राधा को नौ मन घी होगा, न राधा नाचेगी। न लोग त्याग, विवेक और श्रद्धा-विश्वास में प्रतिष्ठ करेंगे, न काम-कांचन से विरत होंगे और न समाज से दुष्कृत्यों का अंत होगा। फिर इस लम्बे प्रलाप का क्या अर्थ ?" नहीं, ऐसा नहीं है। हमें मनुष्य की अच्छाई में, उसकी ऊपर उठने की लालसा और ललक में विश्वास रखना चाहिए। वह अपनी लम्बी और ऊँची यात्रा में अग्रसर ही है। यह भिन्न बात है कि कभी वह फिसल जाता है, कभी गिर-लुढ़क जाता है। मगर फिर वही देह झाड़कर उठ खड़ा भी होता है उच्चतम की यात्रा की ओर डग उठाने के लिए। तब तक हमें अलख जगाये रखना ही होगा—

लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम के गाता चल
नम होगी यह मिट्टी जरूर, आँसू के कण बरसाता चल।

भगवान श्री रामकृष्ण और स्वामी जी महाराज से मेरी आंतरिक प्रार्थना है कि वे हमें अपने सत्यस्वरूप से भागने की प्रवृत्ति से हटाकर हमें अपने को बदलने की ओर उन्मुख करें ताकि हम परम शान्ति और आनन्द का समाज गढ़ सकें। जय श्रीरामकृष्ण।

गाँव-गाँव तथा घर-घर में जाकर लोकहित एवं ऐसे कार्यों में आत्मनियोग करो जिससे कि जगत का कल्याण हो सके। चाहे अपने को नरक में क्यों न जाना पड़े, परन्तु दूसरों की मुक्ति हो "मृत्यु जब अवश्यम्भावी है तब सत्यकार्य के लिये प्राण-त्याग करना ही श्रेय है।

—स्वामी विवेकानन्द

---

५. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० २०८-९

जीवन को प्रगति-पथ पर ले जाते है उन्हें भी भूल जाने से भारतीय जीवन-प्रवाह में गतिरोध आ गया था और वह प्राणहीन सा दिखाई दे रहा था। लोग कालगति से आदर्शच्युत होकर, त्याग-तपस्या एवं सेवा से वंजित जीवन के कारण, अध्यात्म-जीवन के उच्च तथा उदात्त ध्येयों को ग्रहण तक नहीं कर सकते थे। धार्मिक जीवन में भिन्न-भिन्न मतों का परस्पर संघर्ष तथा विद्वेष ही दिखाई देता था। वेदोदित सुविशाल उदार तथा युक्ति-संगत, तथा अनुभवगम्य सनातन-धर्म का ह्रास हो गया था। समन्वय तथा महानुभूति के स्थान पर परस्पर निन्दा तथा कलह ही मचे हुए थे। इस परिस्थिति के दो मुख्य कारण थे १. भिन्न-भिन्न संस्कृति के विदेशियों के लगातार आक्रमण तथा अत्याचार और २. लगभग छह-सात सौ वर्षों तक भारत का राजकीय दासत्व। ऐसी अवस्था में श्रीरामकृष्ण ने राष्ट्र के लुप्त आध्यात्मिक आदर्शों को अपने जीवन में उतार कर राष्ट्र के आध्यात्मिक जीवन को अनुप्राणित किया तथा प्रगतिशील बनाया। उनका जीवन समस्त अध्यात्मतत्त्वों का आगार और वेद-वेदान्तों का प्रत्यक्ष तथा सजीव निदर्शन था। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है "कालवश नष्ट हुए इस सनातन धर्म के सार्वलौकिक, सार्वकालिक, तथा सार्वदेशिक स्वरूप को अपने जीवन में अभिव्यक्त करके विश्व के सम्मुख सनातन-धर्म के सजीव दृष्टान्त-स्वरूप अपने जीवन को रखते हुए, जनता के चिरहित के लिए भगवान श्री रामकृष्ण अवतीर्ण हुए"। अपने महान धर्म में श्रद्धाहीन तथा धर्म के बारे में भी परानुवर्तनशील बने हुए भारतीयों के मन में श्रीरामकृष्ण के प्रत्यक्ष उज्ज्वल आदर्श ने एक नया उत्साह भरा तथा सनातन-धर्म प्रणीत उदार अध्यात्म-जीवन में नयी उत्साहपूर्ण श्रद्धा उत्पन्न की।

श्री रामकृष्ण के जीवन का अध्ययन किए बिना आधुनिक काल में वेद वेदान्त तथा अन्य हिन्दू अध्यात्म शास्त्रों का अभिप्राय तथा मर्म पूर्णतया समझना कठिन है। उनका जीवन भारतीय धार्मिक विचारों पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। **वेदों तथा उनके ध्येयों के वह जीवन्त भाष्य थे।** भारतीय धार्मिक जीवन का एक समग्र रूप उन्होंने अपने जीवन में समाविष्ट कर दिया था। उनमें परिपूर्णता सुशोभित थी। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य सुविशाल और असंकीर्ण मनोभावना तथा लोक-सेवाभिलाषा— इन सब गुणों के ये मूर्त-स्वरूप थे। स्वामी विवेकानन्द जी के वचनों में, उनमें "**श्री शंकराचार्य जी की अद्भुत एवं तीक्ष्ण, पारदर्शी मेधा तथा भगवान बुद्ध के विशाल एवं गम्भीर हृदय का ऐक्य हुआ था।**" निरक्षर होने पर भी उनकी अनुभवी व तत्वदर्शी विशाल बुद्धि ने ऐसे महान तत्वों का आविष्कार किया जिनसे भारत के तथा विदेशों के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले सब मत-संप्रदायों के समन्वय की संभावना हुई है। उनका उदार हृदय बोल उठा—'**सब सम्प्रदायों में एक ही ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर आत्मा के रूप में विराजमान है।**" उनका प्रेमपूर्ण हृदय समग्र विश्व के दीन, दुर्बल, दलित, दरिद्र तथा पतितों के लिए करुणार्द्र था। उनके मुख से ये अनुकंपापूर्ण उद्गार निकले, "भूखे पेटों के सामने तत्त्वज्ञान का उपदेश विडम्बना मात्र है—उनको पहले चाहिए अन्नदान फिर ज्ञानदान। .... जीव और शिव एक है। जीवों की सेवा शिव-ज्ञान से करो। तुम्हारा आध्यात्मिक कल्याण इसी में है। भूल से यह अहंकार न करो कि तुम किसी की सहायता कर सकते हो, अपनी जीवसेवा से केवल तुम भगवान को ही पूजते हो, अपने को ही धन्य बनाते हो।"

समन्वय के अवतार श्रीरामकृष्ण के मानस-सरोवर में अध्यात्म-जीवन की समस्त धाराएँ एकत्र होकर एक महा-प्रवाह के रूप में निर्गत हुईं, जिससे धर्म-क्षेत्र भारत सुफलित हुआ। श्रीरामकृष्ण ने किसी भी अध्यात्म मार्ग का तिरस्कार नहीं किया प्रत्युत अपने जीवन के माध्यम से बताया कि मूढ़ता तथा अन्धविश्वासपूर्ण भासनेवाले पंथों में भी वही सत्य छिपा है जो अति युक्ति-संगत भासने वाले उच्च मार्गों में स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने कहा, "**जितने मत उतने पथ**"। "यह अन्धविश्वास है" ऐसा उद्गार उनके मुख से कभी नहीं निकला। इन उदार अनुपम गुणों के कारण विभिन्न अध्यात्म पथगामी, श्री रामकृष्ण में अपने-अपने आदर्शों की परिपूर्णता देखते थे। शैवों ने उनमें शिव का आभास पाया। वैष्णवों ने उनमें

एक महान विष्णुभक्त को देखा। शाक्तों ने उनमें मातृ-भक्त शिशु को देखा। तांत्रिकों ने उनको तंत्रसिद्ध पाया। ईसाइयों ने उनमें ईसा का प्रतिरूप देखा। मुसलमानों ने एक सूफी पीर को पाया। मूर्तिपूजकों ने देखा कि श्रीरामकृष्ण ने सारी धर्म-साधना काली मूर्ति की पूजा के द्वारा ही की और अद्वैतियों ने देखा कि वह समस्त नाम-रूप के परे निर्गुण-निराकार ब्रह्म में सदा लीन रहते थे। श्रीरामकृष्ण भक्तों को अनन्य भक्त जान पड़ते थे तो ज्ञानियों को परमज्ञानी। कर्मनिष्ठ जनता ने उनमें एक बड़े कर्मयोगी को देखा तो योगीजन उनको सदा सहज समाधिमग्न पाते थे। श्रीरामकृष्ण-रूपी निर्मल आदर्श (आईना) में सारे मतावलंबियों ने अपने-अपने आदर्शों, ध्येयों का प्रतिरूप स्पष्ट देखा और अनुभव किया। सच ही स्वामी विवेकानन्द ने गाया है—

शक्तिसमुद्रसमुत्थतरङ्गम् दर्शितप्रेमविजृम्भितरङ्गम्।
संशयराक्षसनाशमहास्त्रं यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्॥
अद्वयतत्वसमाहितचित्तं प्रोज्ज्वलभक्ति-पटावृतवृत्तम्।
कर्मकलेवरमद्भुतचेष्टं यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्॥
जय नरदेव, जय जय नरदेव॥

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन में समस्त विश्व के आध्यात्मिक आदर्शों का ऐक्य किया। इसके अलावा उन्होंने अपने अथाह अनुभवी ज्ञान के द्वारा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्गों का सरलतापूर्ण शब्दों में अनोखे ढंग से समन्वय किया और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, आत्मा-परमात्मा, जीव-शिव, ब्रह्म और शक्ति इन भावनाओं का सामंजस्य दिखाया। उन्होंने बताया कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत एक ही अध्यात्म सोपान की पद-परम्परा हैं। वस्तु एक ही है। दृष्टिकोण का ही विभेद है। फिर "जो ब्रह्म है वही काली, वही शक्ति है। भगवान मातृभाव से उसी प्रकार पूजे जा सकते हैं जैसे पितृ भाव से। जो सगुण-साकार भगवान है, वही निर्गुण-निराकार ब्रह्म भी—जैसे पानी और बर्फ। शिव या शक्ति, या ब्रह्म और माया एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। ब्रह्म जितना आवश्यक है उतनी ही माया भी, शिव की जितनी आवश्यकता है उतनी ही शक्ति की भी। एक राम, अनेक नाम'। विभेद केवल दर्शकों के दृष्टिकोण तथा अवस्था विशेष से ही प्रतिभात होता है। पूर्णज्ञान में भेद मिट जाते हैं।" श्री रामकृष्ण ने बताया कि ज्ञानी और भक्त के परे विज्ञानी है। और वही विज्ञानी है जो उपर्युक्त रीति से पूर्णतः भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार कर चुका हो तथा भगवान के नित्य तथा लीला इन रूपों में तुल्य भाव से तथा सहज तन्मय होता हो। वे स्वयं ऐसे एक महान विज्ञानी थे, यह सुस्पष्ट है। जहाँ ब्रह्मयोगी-पुरुष भी बहुत प्रयत्न से समाधिस्थ रहना चाहते हैं, वहाँ उनका यह सतत प्रयत्न रहता था कि सहज समाधि की अवस्था से मन को बलपूर्वक कुछ निम्नस्तर पर लाऊँ जिससे लोक-कल्याण हो सके। भक्तों के साथ आनन्द कर सकूँ।

श्रीरामकृष्ण केवल संन्यासियों के आदर्श नहीं थे। पूर्ण जितेन्द्रिय, वैराग्य-सम्पन्न, काम-कांचन परित्यागी, भक्तिज्ञान के शिरोमणि विज्ञानी होने पर भी वह चारों आश्रमों के आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुषों के लिए आदर्शभूत थे। आदर्श संन्यासी होते हुए भी उन्होंने अपनी पूर्व-विवाहिता पत्नी को दूर नहीं हटाया। प्रत्युत अपने अस्खलित ब्रह्मचर्य के द्वारा उसे शिष्या के रूप में पास ही रखकर गृहस्थों के लिए आदर्श दाम्पत्य का पाठ सिखाया—पत्नी सहधर्मिणी है और पति-पत्नी का परस्पर धर्मजीवन में सहायक बनना कर्त्तव्य है। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने अध्यात्म-जीवन की एक नयी ही सामाजिक प्रणाली आरम्भ की। उनके जीवन के आलोक में यह भी स्पष्ट विदित होता है कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करने से लोग नीरस या निरानन्दी नहीं बन जाते, क्योंकि सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के संसर्ग में निरानन्दता को कहाँ स्थान है? केशवचन्द्रसेन इत्यादि महापुरुषों विद्वानों द्वारा लोकगुरु माने जाने पर भी श्रीरामकृष्ण का स्वभाव एक पंचवर्षीय बालक का-सा था—निरभिमानी, सरल, तथा मुक्त। और वह जहाँ पर भी होते वहाँ आनन्द का बाजार बैठ जाता था। साथ-साथ वह कार्यदक्ष भी थे। मन से वे सदैव उच्चस्तर पर बिहार करते हुए भी छोटे से छोटे काम को भी सुव्यवस्थित तथा सुचारु ढंग से करते थे। किसी चीज को न भूलते न किसी विषय का

निर्लक्ष करते। सभी चीजों में वही आध्यात्मिक मनोयोग रहता था। कर्मसाधना के द्वारा भी ध्यानसाधना हो सकती है, यह हम उनके जीवन में देखते है। इन सब गुणों की भित्ति थी उनकी सत्यप्रियता, क्योंकि 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं" अर्थात् सत्य सदा सुन्दर व मंगलकारी होता है।

श्री रामकृष्णदेव का सर्वव्यापी आदर्श-जीवन भारत के, हो सकता है समस्त विश्व के भविष्य अध्यात्म-जीवन का आदर्श बनेगा, इसमें संशय नहीं। इस महान जीवन-केन्द्र से निर्गत प्रबल शक्तिधाराएं भारत के अध्यात्म-जीवन को ही नहीं वरन् उसकी समग्र संस्कृति-सभ्यता को भी पुनर्जीवित करेंगी, जैसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध के आध्यात्मिक जीवन के प्रभाव से भारत के साहित्य, कला संस्कृति इत्यादि सभी विकसित हुए थे। सनातन धर्म के विविध छिन्न-भिन्न आदर्शों ने श्रीरामकृष्ण के जीवन में सुसंगठित होकर भारत में एक नवयुग का आरम्भ किया है और सनातन धर्म का समन्वयात्मक आदर्श नूतन रूप में विश्व के सामने घोषित किया गया है। विश्वभर में श्रीरामकृष्ण के इस जीवन के सन्देश वाहक तथा घोषणाकारी श्री स्वामी विवेकानन्द जी के वचनों में—

'यह नव-युगधर्म समस्त जगत के, विशेषतः भारतवर्ष के अनन्त कल्याण का कारण है और इस नव-युगधर्म के प्रवर्तक भगवान श्रीरामकृष्ण इतः पूर्व हुए समस्त युगधर्म प्रवर्तकों के पुनर्निर्मित तथा सुसंस्कृत स्वरूप हैं। हे मानव, इसमें विश्वास रखो और इसे हृदयस्थ करो। समस्त प्रकार के संशयों को दूर करके इस धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए कार्यरंग में कूद पड़ो।"

—०—

अमृतकण

दिनान्ते च पिबेद् दुग्धं
निशान्ते च पिबेत् पयः।
भोजनान्ते पिबेत् तक्रं
किं वैद्यस्य प्रयोजनम्॥

दिन के अन्त में दूध पिये, रात के अन्त में जल पिये, और भोजन के अन्त में मठा पिये, फिर वैद्य की क्या आवश्यकता ?

—अज्ञात

"कल !" इस शब्द में कितनी संभावनाएं भरी पड़ी है।... इसलिए अच्छा हो, हम मृत्यु को सिर्फ आने वाले एक 'कल' की तरह समझें जो असीम विश्वास और उत्साह से भरा है।

—हेलेन केलर

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण

—(आचार्य स्वामी भागवतानन्द सरस्वती, हरिद्वार)

श्रीकृष्ण भगवान् की व्रजलीला, मथुरालीला एवं द्वारकालीला तीन प्रकार से प्रतिपादित हैं।

(१) व्रजलीला— इस लीला मे रस पुष्टि वात्सल्य, सख्य, दास्य, एवं मधुर रसों की क्रमशः पूर्ण पुष्टि लीला के माध्यम से हुई है जिसमें विभावानुभाव, संचारी भाव विस्तार भय से नहीं कहे जा रहे हैं।

(२) भौतिक बाल-लीला में सामान्य बालक की तरह खेलना, चन्द्र खिलौना मांगना, माखन चुराना, मिट्टी खा लेना है।

(३) दैत्य-संहार—खेल-खेल में ही पूतना, तृणावर्त्त आदि को मारना।

(४) सामाजिक दृष्टिकोण से इसी लीला माध्यम से यह दिखाया कि जेल में जन्म, दूसरे के घर रात्रि म ही पहुँचना कैसी-कैसी विपत्तियों का सामना करना बचपन म ही ज़हर पिलाना, ऊपर छकड़ा और पेड़ का गिरना। अपने ही मामा के द्वारा सभी घातक उपाय होना। इन संकटों को झेलकर अपना मस्ती में मस्त रहना बहुत बड़ा आदर्श है।

(५) आध्यात्मिक दृष्टिकोण से श्रीकृष्ण दिव्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म हैं जिनकी बुद्धि में उनकी अनुभूति होती है उनसे अविद्या (पूतना), तृणावर्त्त (रजोगुण—काम-क्रोध), जड़ता, देहाध्यास, (बंकासुर) आदि का नाश हो जाता है। क्रमशः मिट्टी खाने के बहाने भूमि-शोधन, कालिय नाग नाथने के बहाने इन्द्रियों से विषय विष निकालकर जल (जीवन)-शोधन, अग्निपान से तेज-शोधन, तृणावर्त्त से वायु-शोधन, व्योमासुर वध से आकाश-शोधन किया गया है। जब साधक के पंचभूत शुद्ध होकर अविद्यादि शत्रु समाप्त हो जाते हैं, तब उसकी एक-एक वृत्ति थिरकती कृष्ण के साथ नाचती है। यही महारास है। जिसके हृदय में यह महारास अवतरित हो जाता है उसकी कामनाओं का नाश स्वतः हो जाता एवं वह आधि-व्याधि मे मुक्त हो जाता हैं। इसीलिए कथा-माध्यम में गोपियों के चीर (वृत्तियों में बसी वासना—अविद्या) की हरण-लीला कही गई है। तब रासलीला का वर्णन है जो तीन प्रकार से है। एक-एक गोपी एक-एक कृष्ण अर्थात् हर वृत्ति के साथ चेतन प्रभु के आश्रय का अनुभव।

दो-दो गोपी एक-एक कृष्ण। उसी प्रकार अनेक गोपियाँ और एक-एक कृष्ण अर्थात् प्रत्येक स्थिति में वृत्ति को परमाश्रय चेतन श्रीकृष्ण का अनुभव करना है।

'रसो वै सः' श्रुति के अनुसार तथा "आनन्दात देव इमानि भूतानि जायन्ते" श्रुति सिद्धान्तों से परम मधुर, परम सुन्दर, परम मंगलमय रस स्वरूप आनन्दसुधासिन्धु श्रीकृष्ण गोपियों के साथ ऐसे नाचते हैं जैसे कोई बालक अपने प्रतिबिम्ब के साथ नाचता है। यहाँ काम की गंध नहीं है। उन्हें आत्माराम, मन्मथ-मन्थन, योगेश्वरेश्वरेश्वरः इसीलिये कहा गया है। आज के युग में इतना बड़ा काम-विजयी दृष्टान्त हमारे लिये आदर्श है।

मधुर रस की अभिव्यक्ति में पाँचों गोपी-गीत मनन करने लायक हैं, जिनपर गत वर्ष प्रवचन हो चुका है। इसमें रेणु माधुरी, धेनु-माधुरी वेणु माधुरी का सुन्दर वर्णन है। समस्त व्रजलीला ११ वर्ष ५२ दिन मानी गयी है। इतने समय में जैसे गेंद उछालना वैसे ही गोवर्धन उठाना। एक ओर राधा को मनाना तो दूसरी ओर इन्द्र और ब्रह्मा, वरुण और कामदेव जैसों को परास्त करना। धरती पर असंख्य रमणियों में जैसे निर्विकार रहना, वैसे ही विषधर नाग के ऊपर नाचते रहना उनकी अपनी विशेषता है। कहीं उद्विग्नता नहीं, कहीं थकावट नहीं, कहीं चिन्ता, भय एवं शोक नहीं।

(ii) मथुरा लीला—इसी प्रकार मथुरा लीला में भी

कंस को पछाड़ना, जरासंध, द्विविद यमन जैसों को परास्त करना—साधारण बात नहीं है। उन्हें गन्धर्व वेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद एवं स्थापत्य (द्वारकापुरी निर्माण) का सर्वविध ज्ञान है। कंस को मारने के बाद वे माता-पिता के चरण पकड़ कर क्षमा माँगते हैं। उन्होंने कहा—"मेरे रहते आपको इतने दिन जेल में रहना पड़ा, जो समर्थ हो कर भी माता-पिता का सहयोग नहीं करता है उसको घोर नरक में जाकर अपना मांस खाना पड़ता है। यह माता-पिता भक्ति के साथ-साथ गुरुभक्ति भी एक विलक्षण ही है जो कि उनके मृत-पुत्र को लाकर देने में स्पष्ट होती है। राजा उग्रसेन हैं। स्वयं चाकर की तरह आज्ञापालन करते हैं। मथुरा-लीला में भी कई विषमताओं द्वन्द्वों में शत्रुओं के कारण रहना पड़ता है और अन्त में एक बार युद्ध से भागना तो हुआ ही, मथुरा से भागकर द्वारका में रहना पड़ता है। इससे अधिक संकट और क्या आ सकता है! उनके रिश्तेदार भी कुछ तो पाण्डव आदि स्वयं बहुत दुःखी हैं। इसलिये सहयोग नहीं कर सकते और कुछ जैसे—बुआ का पुत्र शिशुपाल, आदि प्राण-घातक शत्रु हैं।

(iii) द्वारका लीला—द्वारका पहुँचने पर भी शत्रुओं का तांता लगा रहा। विवाह हुए, पुत्र-पौत्र इत्यादि बहुत लम्बा परिवार हुआ। सामान्य परिवार की तरह आपस में वाद-विवाद, झगड़ा भी होता रहा। स्वयं मणि की चोरी में अविश्वासी भी बनाये गये। उनके लड़के इधर-उधर कन्याओं का बिना ही आज्ञा के हरण करने जाते थे। विवाहादि संस्कार सबके करने पड़े। सारांश यह है कि उनमें अपरिमिति धन होते हुए भी न तो लोभ है, न स्वयं पद पाने की स्पृहा। अपरिमित परिवार होने पर भी न तो मोह है और न उनसे सुख पाने की स्पृहा। अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वैभव, अनन्त बल के द्वारा इन्द्र, ब्रह्मादि देवों को परास्त करके सर्वोच्च पद पाकर भी युधिष्ठिर के यज्ञ में सबके चरण धोने जैसी निरभिमानता विलक्षण देखी जाती है।

अन्त में सबका सब परिवार परस्पर लड़कर आँखों के सामने स्वाहा हो गया। लड़ने से बहुत रोका, परन्तु उन्होंने माना ही नहीं। यहाँ भगवान के परिवार में मदिरापान से सर्वथा विनाश व्यक्त किया गया है। साथ ही, पारिवारिक जनों के लिये कितना वैराग्य हेतुक दृष्टान्त है कि आज के पारिवारिक जन अपने पूर्वजों की बात कैसे मानें जब भगवान् की बात भी उन्होंने नहीं मानी। विशेष ध्यान देने की बात तो यह है कि सारे परिवार के नष्ट होने पर भी उनकी मुस्कान में थकान नहीं आयी। समूचा जीवन संघर्ष से भरा हुआ है। परिस्थितियां बहुत गहन और विषम घेरे रही हैं, किन्तु सुख से स्पृहा न होने के कारण उनमें उद्विग्नता की गन्ध भी नहीं देखी जाती। प्रत्येक लीला की प्रत्येक घटना में उनके द्वारा बोली गयी गीता चरितार्थ हो रही है। इसलिये उनके द्वारा बोली गयी गीता मानो उनके जीवन को बोल रही है। आज विश्व के कोने-कोने में श्रीकृष्ण का समत्वयोग, उनकी सुखों से निःस्पृहता और प्रति परिस्थिति में गम्भीर प्रसन्नता उनके मुरलीवादन की घोषणा करती है!

श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना
में दि० ८ से १४ दिसम्बर, १९८२ तक
आचार्य **श्री स्वामी भागवतानन्द सरस्वती जी** महाराज के प्रवचन से

प्रेषक—**श्यामसुन्दर प्रसाद**

सी/८, ईस्ट गार्डिनर रोड, पटना--१

परमहंस श्री रामकृष्ण देव एवं मातृ-भाव

—उमेश चन्द्र

परमहंस श्री रामकृष्णदेव की भक्ति-साधना अपूर्व थी। भक्ति-साधना की सभी वीथियों से आनन्द लाभ करते हुए भी उन्हें मातृ-भाव की अलौकिक साधना अपरिमेय एवं आह्लादपूर्ण लगी। पुराणों में मातृ-पूजा की महिमा गायी गयी है। श्री दुर्गा-सप्तशती के प्रथम अध्याय में मधु-कैटभ का वध करते समय ब्रह्मादि देवताओं ने महामाया जगदम्बा की भाव-भीनी स्तुति की है।

"त्वं स्वाहा त्वं स्वधात्वं हि वषट्कार स्वरात्मिका ॥ ७३ ॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुचार्या विशेषतः ॥ ७४ ॥
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ॥ ७५ ॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥ ७६ ॥[1]

"देवि! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवन-दायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार, मकार—इन तीन मात्राओं के रूप में तुम्हीं स्थित हो तथा इन तीन मात्राओं के अतिरिक्त जो विन्दु रूप नित्य अर्धमात्रा है, जिसका विशेषरूप से उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम्हीं हो। देवि! तुम्हीं संध्या, सावित्री तथा परम जननी हो। देवि! तुम्हीं इस विश्व-ब्रह्माण्ड को धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत की सृष्टि होती है। तुम्हीं से इस जगत का पालन होता है और सदा तुम्हीं इस कल्प के अन्त में सबको अपना ग्रास बना लेती हो।

जगत् जननी की इसी अलौकिक प्रतिभा का आस्वादन कर परमहंस श्री रामकृष्णदेव ने मातृ-पूजा में जीवन की परिणति पायी। वे कहा करते थे;—

"कोई ईश्वर की कृपा प्राप्त करना चाहे तो उसे पहले आद्याशक्ति रूपिणी महामाया को प्रसन्न करना चाहिए। वे संसार को मुग्ध करके सृष्टि, स्थिति और प्रलय कर रही हैं। उन्होंने सबको अज्ञानी बना डाला है। वे जब द्वार से हट जायेंगी तभी जीव भीतर जा सकता है। बाहर पड़े रहने से केवल बाहरी वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, नित्य सच्चिदानन्द पुरुष नहीं मिलते।

संसार का मूल आधार शक्ति ही है। उस आद्या-शक्ति के भीतर विद्या और अविद्या दोनों हैं। अविद्या मोहमुग्ध करती है। अविद्या वह है जिससे कामिनी और कांचन उत्पन्न हुए हैं। वह मुग्ध करती है। और विद्या वह है जिससे भक्ति, दया, ज्ञान और प्रेम की उत्पत्ति हुई है, वह ईश्वरमार्ग पर ले जाती है।"[2]

उस अविद्या को प्रसन्न करना होगा। इसलिए शक्ति की पूजापद्धति हुई।

मातृ-पूजा की यह विधा पौराणिक युगों से ही भारतीय पूजापद्धति के अन्तर्गत आयी। किन्तु मातृ-तत्त्व का यह विश्लेषण परमहस श्रीरामकृष्ण ने ही दिया। महामाया के रूप में माँ ही स्थित हैं। माया के पाशों से मुक्ति बिना माँ की कृपा के कदापि सम्भव नहीं। माँ की लीला ही सृष्टि का कारण है।" लीला से उन्होंने संसार की रचना की है। इसी का नाम महामाया है। अतएव, उस शक्तिरूपिणी महामाया की शरण लेनी पड़ती

1. श्री दुर्गा सप्तशती अनु० पाण्डेय पं० राम नारायणदत्त शास्त्री, प्रथम अध्याय:
2. श्रीरामकृष्ण वचनामृत—प्रथम भाग श्री "म" पृ० 92-93

है। माया के पाशों ने बांध लिया है, पास काटने पर ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं।"[3]

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव ने जगदम्बा को ब्रह्म का ही एक रूप माना है। "परब्रह्म जबतक मैं-पन को रखते हैं, तबतक दिखाते हैं कि वे आद्याशक्ति के रूप में सृष्टि, स्थिति व प्रलय कर रहे हैं। जो ब्रह्म है, वे ही आद्याशक्ति हैं।"[4] ब्रह्म एवं आद्याशक्ति की एकरूपता के सम्बन्ध में परमहंस श्री रामकृष्णदेव एक कहानी सुनाया करते थे, जो बड़ी मुग्धकारी है। एक राजा ने एक योगी से अनुरोध किया कि वह एक ही बात में ज्ञान प्राप्ति का इच्छुक है। योगी ने राजा को आश्वासन दिया कि तुम एक ही बात में ज्ञान पाओगे। दैववश राजा के यहाँ एक जादूगर पहुँच गया। जादूगर ने अपनी दो उँगलियाँ घुमानी शुरू की। राजा कौतूहलवश उसकी दोनों घूमती हुई उँगलियों को देखता रहा। थोड़ी देर में दो उँगलियों के स्थान पर एक ही उँगली राजा को दीख पड़ने लगी। ब्रह्म और आद्याशक्ति पहले पहल दो प्रतीत होते हैं किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर दोनों की एकरूपता प्रतीत होती है।

परमहंस श्री रामकृष्णदेव कहा करते थे कि शरीर एवं मन की समस्त क्रियाएँ शक्ति की ऐश्वर्य कही जायेंगी। ध्यान एवं चिन्तन शक्ति के ऐश्वर्य के भीतर हैं। शक्ति के इसी ऐश्वर्य के कारण उन्होंने शक्ति को ब्रह्म से अभिन्न कहा है।

"इसलिए ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। एक को मानो तो दूसरे को मानना पड़ता है। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। अग्नि को मानो तो उसकी दाहिका शक्ति को भी मानना पड़ेगा। बिना दाहिका शक्ति के अग्नि का विचार नहीं किया जा सकता, फिर अग्नि को छोड़कर दाहिका शक्ति का विचार नहीं किया जा सकता। सूर्य को अलग कर के उसकी किरणों की कल्पना नहीं की जा सकती, न किरणों को छोड़कर कोई सूर्य को ही सोच सकता है।

दूध कैसा है! सफेद। दूध को छोड़कर दूध की धवलता नहीं सोची जा सकती और न धवलता के बिना दूध ही सोचा जा सकता है।

इसीलिए ब्रह्म को छोड़कर न शक्ति को कोई सोच सकता है और न शक्ति को छोड़कर ब्रह्म को। उसी प्रकार नित्य को छोड़कर न लीला को कोई सोच सकता है और न लीला को छोड़कर नित्य को।

आद्याशक्ति लीलामयी हैं। वे सृष्टि, स्थिति और प्रलय करती हैं। उन्हीं का नाम काली है। काली ही ब्रह्म हैं, ब्रह्म ही काली हैं। एक ही वस्तु है। वे निष्क्रिय हैं, सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कोई काम नहीं करते, यह बात जब सोचता हूँ तब उन्हें ब्रह्म कहता हूँ और जब वे ये सब काम करते हैं, तब उन्हें काली कहता हूँ—शक्ति कहता हूँ। एक ही व्यक्ति है। भेद सिर्फ नाम और रूप में है।[5]

आद्याशक्ति के इसी ऐश्वर्य एवं ब्रह्म के साथ अनन्यरूपता के कारण परमहंस श्री रामकृष्णदेव मातृ-पूजा किया करते थे। अपने शिष्यों को वे कहा करते थे :—

"मातृ-भाव अति शुद्ध भाव है। तन्त्र में वामाचार की बात भी है, परन्तु वह ठीक नहीं। उससे पतन होता है। भोग रखने से ही भय है।

मातृ-भाव मानो निर्जला एकादशी है, किसी भोग की गन्ध नहीं है। दूसरी है फल-मूल खाकर एकादशी, और तीसरी, पूरी मिठाई खाकर एकादशी है। मैंने मातृ-भाव से सोलह वर्ष की कुमारी की पूजा की थी। देखा, स्तन मातृ-स्तन है, योनि मातृ-योनि है।

यह मातृ-भाव—साधना की अन्तिम बात है। "तुम माँ हो, मैं तुम्हारा बालक हूँ। यही अन्तिम बात है।"[6]

मातृ-भावना का ही यह परिणाम था कि समस्त स्त्री जाति उन्हें आद्याशक्ति का रूप प्रतीत होती थी। यह परमहंस श्री रामकृष्णदेव की ही अलौकिक चिर

3. श्रीरामकृष्ण वचनामृत—प्रथम खण्ड श्री "म" पृ० 92
4. श्रीरामकृष्ण वचनामृत—प्रथम खण्ड "श्री म" पृ० 149
5. श्रीरामकृष्ण वचनामृत—प्रथम खण्ड श्री 'म" पृष्ठ 129
6. श्रीरामकृष्ण वचनामृत—तृतीय भाग—श्री "म" पृष्ठ 20

प्रतिभा थी जिसने अपनी पत्नी में भी मातृत्व का चरम विकास पाया। माँ सारदा उनकी जीवन सहचरी बनकर आयीं। किन्तु सामान्य पति-पत्नी की तरह उन्होंने जीवन-यापन नहीं किया। उनका प्रेम कितना निश्चल एवं गरिमायुक्त था इसकी पुष्टि उनके जीवन-काल की एक घटना से होती है। एक दिन एकान्त में अपने पतिदेव की चरण-सेवा करते समय सारदा देवी उनसे अकस्मात् पूछ बैठीं "अच्छा, तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" श्रीरामकृष्ण ने निःसंकोच भाव से उत्तर दिया, "जो माँ मन्दिर में विद्यमान हैं, उन्हीं ने इस शरीर को जन्म दिया है और इस समय नौबतखाने में हैं, तथा वे ही अभी मेरा पैर दबा रही हैं। वास्तव में साक्षात् आनन्दमयी के रूप में तुम्हें देखता हूँ।"[7] दैहिक सम्बन्धरहित दो शुद्ध आत्माओं का यह संयोग मातृ-भाव का ही परिणाम है।

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव अपनी नवयुवती पत्नी सारदा देवी के साथ आठ महीने तक एक ही कमरे में एक ही पलंग पर सोये, किन्तु उनका मन कभी भी मलीन न हुआ। उनके शरीर में किसी प्रकार का :विकार उत्पन्न नहीं हुआ। यह परमहंस के जीवन की अग्नि परीक्षा थी। अग्नि-परीक्षा के इस काल में उनकी मातृ-भावना ही उनका एकमात्र सम्बल रही। "स्त्री मात्र के प्रति श्रीरामकृष्ण की मातृबुद्धि थी। सभी नारियों मे उन्हें जगन्माता के दर्शन होते थे। स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु—इस परम ज्ञान में वे सुप्रतिष्ठित थे।"[8]

दक्षिणेश्वर में रहते समय श्रीरामकृष्णदेव ने रमणी-मात्र के प्रति मातृभाव से सम्बन्धित एक पौराणिक कथा सुनायी थी कि किस प्रकार सिद्ध ज्ञानियों के अधिनायक श्री गणेश जी के हृदय में मातृभाव का विकास हुआ था। किशोरावस्था में खेलते हुए गणेशजी की दृष्टि एक बिल्ली पर जा पड़ी। बालसुलभ चांचल्य के कारण उन्होंने बिल्ली को बुरी तरह घायल कर दिया। बिल्ली किसी प्रकार प्राण बचाकर भाग गयी। जब थोड़ी देर बाद ये अपनी माता श्री पार्वती के पास पहुँचे, तब उन्हें यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि माता के अंगों पर जगह-जगह मार के निशान हैं। माता की दशा देखकर उन्हें बड़ी व्यथा हुई। पूछने पर माँ ने खिपण्णता से उत्तर दिया कि तुम्हीं मेरी दुरवस्था के कारण हो। मातृभक्त गणेशजी के लिए यह प्रसंग बड़ा ही विस्मयकारी था। उन्होंने अपनी आँखों में आँसू भरकर माँ से यह प्रश्न किया, "यह क्या कह रही हो माँ, मैंने तुमको कब मारा? यह भी तो मैं याद नहीं कर पा रहा हूँ कि मैंने कोई ऐसा दुष्कर्म किया है जिससे तुम्हें इस प्रकार की दारुण पीड़ा सहनी पड़ रही है।" जगदम्बा पार्वती ने उत्तर दिया, तुम्हीं विचार कर देखो कि आज तुमने किसी प्राणी को मारा है या नहीं! गणेशजी ने सोचा सम्भव है बिल्ली के मालिक ने मेरी माँ की यह अवस्था की हो। अपने पुत्र श्री गणेशजी पश्चाताप करते एवं ह्वल होते देखकर वे बोलीं, "तुम जो सोच रहे हो, वह बात नहीं है। मेरे शरीर पर किसी ने भी हाथ नहीं उठाया है, किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि मैं ही बिल्ली आदि समस्त प्राणियों के रूप में विचरण कर रही हूँ। यही कारण है कि तुम्हारे मारने के चिह्न मेरे शरीर में प्रकट हुए। आज से यह ध्यान रखना कि स्त्री मूर्तिधारी सारे प्राणी मेरे अंशसम्भूत हैं।" माँ का यह कथन उनके जीवन में सर्वोपरि रहा। उन्होंने विवाह बन्धन भी स्वीकार इसी कारण नहीं किया कि स्त्री जाति माँ का ही तो प्रतीक है। श्री गणेश जी आजीवन ब्रह्मचारी रहे एवं इसी कारण देवताओं में अग्रगण्य रहे।[9]

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ने विषयासक्ति को आत्म-ज्ञान का बाधक माना है। जबतक विषयों के प्रति आसक्ति रहती है—कामिनी कांचन की आसक्ति स्वभाविक है। कामिनी और कंचन ही ईश्वर की उद्दीपना नहीं होने देते। विषयासक्ति तभी निर्मूल हो सकती है जब हम विवेकी पुरुषों के निर्देशों का अनुपालन करें।

---

7. माँ सारदा—स्वामी अपूर्वानन्द—पृ० 37
8. माँ सारदा—स्वामी अपूर्वानन्द—पृ० 38
9. श्रीरामकृष्ण लीला-प्रसंग—स्वामी सारदानन्द पृ० 294-295

'यदि तुम्हारे मन में किसी महिला का विचार आए, तो तत्काल माँ सारदा अथवा अपनी स्वयं की माता के साथ उसे जोड़ दो। काम सम्बन्धी विचार को तत्काल नष्ट कर दो। स्त्रियों के सहवास में मत रहो। ...... समस्त नारी रूपों में उमा तथा समस्त नर रूपों में शिव को देखना चाहिए। ऐसा करना आध्यात्मिक जीवन के लिए बहुत मूल्य रखता है।''[10]

कामिनी और कांचन की भुवनमोहिनी माया बड़ी ही विकराल है। युगों से मनीषियों ने माया के इस अमोघ आवरण को हटाने का प्रयास किया है। किन्तु वे फाँसों में उलझते ही गये। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "माँ, मैं तुम्हें जानना नहीं चाहता। तुम्हें भला कौन जान सका है? या जान सकेगा? बस इतनी कृपा करो कि तम्हारी भुवनमोहिनी माया में मुग्ध न हो जाऊँ। मुझे अपने पादपद्मों में शुद्धा भक्ति दो।''[11]

माँ की महती कृपा ही अन्ततोगत्वा मुक्ति का मार्ग है। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे 'माता से व्याकुल होकर कहो। उनके दर्शन होने से विषय-रस आप ही सूख जायेगा। कामिनी कांचन की आसक्ति सब दूर हो जायेगी।'' अपनी माँ हैं, ऐसा बोध होने पर इसी समय मुक्ति हो जायेगी। वे कुछ धर्म की माँ थोड़े ही हैं, अपनी माँ हैं। व्याकुल होकर माता से कहो—हठ करो। बच्चा पतंग खरीदने के लिए माता का आँचल पकड़कर पैसे माँगता है। माँ उस समय दूसरी स्त्रियों से बात करती रहती है। पहले किसी तरह पैसे देना ही नहीं चाहती। कहती है, 'नहीं, वे मना कर गये हैं। आयेंगे तो कह दूँगी, पतंग लेकर उत्पात खड़ा करना चाहता है क्या?" पर जब लड़का रोने लगता है, किसी तरह नहीं छोड़ता तब माँ दूसरी स्त्रियों से कहती है, तुम जरा बैठो, बस लड़के को बहलाकर मैं अभी आयी। यह कहकर चाभी ले, झटपट सन्दूक खोलती है और एक पैसा बच्चे के आगे फेंक देती है। इस तरह तुम भी माता से हठ करो। वे अवश्य ही दर्शन देंगी।''[12]

स्वामी शिवानन्द परमहंस के अन्तरंग पार्षदों में एक थे। माँ की कृपा का पग-पग पर उन्होंने दर्शन किया था। उनकी वाणी आज भी जीवन्त है—

"एक मात्र परमानन्दमयी माँ ही सत्य है, और सब तो दो दिन के हैं। सृष्टि प्रवाहरूप से नित्य निरन्तर चल रही है, कहीं विराम नहीं। इस सब सृष्टि के परे नित्यानन्दमयी माँ है—वाक्य मन से अतीत "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।''[13]

---

10. धर्मजीवन तथा साधना—स्वामी यतीश्वरानन्द पृ० 86
11. धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द—स्वामी अपूर्वा- नन्द—पृष्ट 275
12. श्रीरामकृष्णवचनामृत— द्वितीय भाग—पृ० 495
13. धर्मप्रसंग में स्वामी शिवानन्द—स्वामी अपूर्वानन्द पृ० 149

श्री सारदा देवी

—स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन, पटना।

उनविंश अध्याय
(अन्तिम कथा)

सन् १९१८ ई० के जनवरी महीने में सारदादेवी को जयरामबाटी जाना पड़ा। इस बार वे वहाँ प्रायः एक वर्ष तक रहीं। दूसरे वर्ष पूस महीने में उनकी जन्मतिथि के दिन उनको साधारण ज्वर हुआ। मलेरिया बुखार—बीच-बीच में ठीक रहतीं, फिर ज्वरग्रस्त हो जातीं। इस प्रकार ज्वर—भोग करते-करते उनका शरीर काफी दुर्बल हो गया। इस बीमारी के समय भी अनेक भक्त जयरामबाटी गये थे और उनकी कृपा पायी थी।

उनकी रुग्णता का समाचार पाकर स्वामी सारदानन्द ने उन्हें कलकत्ता ले आने की व्यवस्था की—सन् १९१९ ई० के फरवरी महीने में। जब वे कलकत्ता आयीं तब उनका शरीर अत्यन्त जर्जर और दुर्बल हो गया था। कलकत्ते के श्रेष्ठ कविराजों और डाक्टरों से उनकी चिकित्सा कराने की व्यवस्था हुई, किन्तु किसी चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ। चिकित्सा के कुछ समय बाद चिकित्सकों ने तय किया कि उन्हें कालाज्वर हो गया है। समस्त शरीर में दिन-रात दारुण ज्वाला रहती—दिन-रात में तीन-चार बार ज्वर हो आता था।

रोग जब काफी बढ़-चढ़ रहा था उसी समय उन्होंने राधू और उसके बेटे को जयरामबाटी भेज देने को कहा। इसी राधू को लेकर उन्होंने अपने मन में इस सुख-दुःख और हास-रुदन से भरे संसार को टिका रखा था। अब उसी राधू को भेज देने के उनके आदेश को उनके सेवक-सेविकाओं ने विपद समझा। राधू के नहीं रहने पर वे शरीर-त्यागकर चली जायेंगी। सबने मिलकर उनसे राधू को रहने देने का अनुरोध किया। किन्तु वे अटल-अविचल रहीं, बोलीं, "नहीं, माया काट दी है।"

इस दारुण रोग के समय भी जब तक संभव हुआ, वे अपने कार्य स्वयं करती रहीं। किसी के कुछ देर तक सेवा करने पर उनके मन में कचोट होती। वे सोचतीं, सेवक या सेविका को बड़ा कष्ट होता है। कोई थोड़ी देर उनको पंखा झलता। पाँच मिनट होते-न-होते वे सेवक से कहतीं, "नहीं, और हवा नहीं करनी है, तुम्हारा हाथ दुःख रहा है।"

बिछावन पर लेटे-लेटे ही वे, उनके घर में जो रहते थे अथवा जो लोग उन्हें देखने आते थे, उन सबकी खोज-खबर लेतीं। डाक्टर या कविराज किसी के आने पर, लौटने के पूर्व वे फल-मिठाई कुछ खाकर जायँ— इस बात पर उनका ध्यान रहता था।

उनके देहान्त के पाँच दिन पूर्व एक नारी भक्त उन्हें देखने आयी थीं। उनके घर में प्रवेश करने के निषेध के कारण वह स्त्री दरवाजे के निकट बैठी थीं। सारदादेवी ने बिछावन पर करवट बदलने के समय उस स्त्री को देखकर इशारे से अपने समीप बुलाया। स्त्री ने प्रणाम कर रोते हुए कहा, "माँ हमलोगों का क्या होगा?" उन्होंने क्षीण स्वर में धीरे-धीरे उत्तर दिया, 'यदि शान्ति चाहती हो माँ, तो किसी का दोष मत देखो। दोष अपना देखना। संसार को अपना बना लेना सीखो; कोई पराया नहीं है माँ, सारा संसार तुम्हारा ही है।" यही उनका अन्तिम उपदेश है। इसी एक उपदेश को मानकर चल पाने से हमलोगों का जीवन सुख-शान्ति से भर उठेगा।

देखते-देखते दिन समाप्त हो गया। १९२० ई० की २१ जुलाई, मंगलवार को रात के डेढ़ बजे उन्होंने शरीर त्याग दिया। दूसरे दिन उनके शरीर को बेलुड़ मठ ले जाकर गंगातट पर संस्कार किया गया। जिस स्थान पर उनके शरीर का दाह-संस्कार हुआ, उस स्थान पर एक छोटा-सा सुन्दर मन्दिर निर्मित हुआ है। देश-विदेश के सैकड़ों नर-नारी उस मन्दिर में उन्हें अपने अन्तःकरण की प्रणति अर्पित करते हैं।

विंश अध्याय

(शिक्षा)

विभिन्न वय के, विभिन्न अवस्था के नर-नारी दिनानुदिन सारदादेवी के निकट गये थे—उनकी बातें सुनकर प्राणों में शान्ति पाने के लिए, उनके उपदेश सुनकर तदनुसार अपने जीवन का निर्माण करने के लिए। जिसकी जैसी आवश्यकता समझतीं—वे अलग-अलग व्यक्ति को अलग-अलग प्रकार का उपदेश देती थीं। उनके सरल उपदेशों में से चुन-चुनकर यहाँ कुछ संग्रहीत किये गये हैं।

(१) सर्वदा कार्य करना होगा। काम करने से शरीर और मन ठीक रहते हैं। पहले जब मैं जयरामबाटी में थी, दिन-रात काम करती रहती थी।

(२) कार्य अवश्य करना चाहिए; कर्म करते-करते कर्म का बन्धन कट जाता है। तभी निष्काम भाव आता है। एक पल भी काम छोड़कर रहना उचित नहीं।

(३) थप्पड़ खाने पर (दुःख में) बहुत लोग राम का नाम लेते हैं, किन्तु बचपन से फूल जैसे मन को जो ठाकुर (ईश्वर) के चरणों पर अर्पित कर पाता है, वही धन्य है।

(४) नये भक्तों को देव-सेवा का कार्य करने देना होगा, क्योंकि उन लोगों का नया अनुराग है, इससे वे सेवा अच्छी तरह कर सकते हैं। जैसे-तैसे सेवा करने से ही क्या होगा ? सेवापराध न हो, उस ओर ध्यान रखना चाहिए। तब क्या होगा जानते हो ? मनुष्य अज्ञानी है, यह जानकर वे क्षमा करते हैं। ···चन्दन में रुखड़ापन नहीं हो, फूल-बेलपत्र कीड़ों से खाये हुए नहीं हों। पूजा के या पूजा के कार्यों के समय जैसे अपने किसी अंग पर, बाल या कपड़े पर, हाथ नहीं लगे। एकान्त में यत्न पूर्वक यह सब करना चाहिए। और भोग-राग सब ठीक समय पर देना होगा।

(५) पाप-पुण्य का जहाँ प्रसंग चलता है, वहाँ जितने लोग रहते हैं उनमें से सबको उस अच्छे-बुरे का एक-न-एक अंश लेना ही पड़ता है।

(एक व्यक्ति ने प्रश्न किया, 'ऐसा क्यों होगा ?')

सुनो माँ, कैसे होता है। कल्पना करो कि कोई आदमी तुम्हारे समीप उन लोगों के पाप-पुण्य की कथा कह गया। मन में कभी उस आदमी की बात उठते ही साथ ही साथ उसके अच्छे बुरे कार्यों का चिन्तन भी आ पड़ेगा। इस प्रकार वही अच्छा या बुरा दोनों ही तुम्हारे मन पर अपना कार्य कर जायेंगे।

(६) 'माँ' के धर्म-पथ में सहायता कर सको तभी तो सही बेटे का कार्य किया। उनके हृदय का रक्त-पान कर इतने बड़े हुए हो, कितना कष्ट उठाकर उन्होंने तुम्हें मनुष्य बनाया है, उनकी सेवा करना अपना सबसे बड़ा धर्म समझना। तब यदि वे भगवान के पथ पर जाने में बाधा दें तब तो दूसरी बात है।

(७) (बाल-विधवा एक सुन्दरी नारी के प्रति) किसी के साथ मिलना-जुलना नहीं, किसी का दामाद, समधी, कुटुम्ब आये, उसके समीप तनिक भी रहना नहीं। 'रहो आप अपने में ही मन, जाओ नहीं किसी के भी घर।' जिसके प्रति जो कर्त्तव्य है वह कर दो, किन्तु भगवान के अतिरिक्त और किसी से प्रेम नहीं करना।

(८) बुरे कार्यों की ओर मन सदा चला जाता है। अच्छा काम करना चाहने पर मन उसकी ओर आगे बढ़ना नहीं चाहता। पहले मैं नित्य रात के तीन बजे उठकर ध्यान करती थी। एक दिन शरीर के अस्वस्थ रहने के कारण आलस्यवश ध्यान नहीं किया; फिर वह कई दिनों तक छूट गया था। इसीलिए अच्छा कार्य करने में काफी आन्तरिक यत्न और दृढ़ता चाहिए।

(९) तोड़ सभी सकते हैं, किन्तु जोड़ कितने आदमी सकते हैं ? किसी की निन्दा, हँसी-ठट्ठा सभी कर सकते हैं, किन्तु उसकी भलाई कितने आदमी कर सकते हैं ?

(१०) सहनशीलता का गुण बड़ा गुण है। इससे बड़ा गुण और कुछ नहीं है।

(११) अच्छा कार्य करना ही उचित है। अच्छा करने से मन अच्छा रहता है, बुरा करने से कष्ट भोगना पड़ता है।

(१२) जिसका मन शुद्ध है वह सब कुछ शुद्ध देखता है। (गोलाप-माँ को देखकर बोलीं) इस गोलाप का मन शुद्ध है। वृन्दावन में माधवजी के मन्दिर में किसी के बाल-बच्चे ने मल-त्याग कर दिया था। सब कहते थे—'विष्ठा', 'विष्ठा', किन्तु कोई उसे फेंकने की चेष्टा नहीं करता था। गोलाप ने उसे देखकर अपनी धोती—नयी मलमल की धोती—फाड़कर उससे पोंछकर फेंक दिया।····इस गंगा के घाट पर यदि किसी तरह का गंदा रहता है तो गोलाप यहाँ-वहाँ से चिथड़े लाकर उसे साफ कर देती है, लोटा-लोटा पानी ढालकर धो देती है। इससे लोगों को सुविधा होती है। उन्होंने जो शान्ति पायी इससे गोलाप का भी मंगल होगा, उनलोगों की शान्ति से इसे भी शान्ति मिलेगी। काफी साधना-तपस्या करने से, पूर्वजन्म में काफी तपस्या किये रहने पर तभी इस जन्म में मन शुद्ध होता है।

(१३) बहुपाप, महापाप नहीं होने से क्या मन अशुद्ध होता है?···अति पवित्रतावादी मन और किसी से शुद्ध नहीं होता। अशुद्ध मन अनायास ही शुद्ध नहीं होता। और अति पवित्रता के भाव को जितना बढ़ाओगे, उतना ही वह बढ़ेगा।

(१४) साधन की बात कहो, भजन की बात कहो, तीर्थ-दर्शन की बात कहो, अर्थोपार्जन की बात कहो—सब जवानी में ही कर लेना चाहिए।···वृद्धावस्था में कफ-श्लेष्मा से मनुष्य भर जाता है, शरीर में सामर्थ्य नहीं रहती, मन में बल नहीं रहता—तब क्या कोई काम संभव हो सकता है?

(१५) जोश में आकर कई लोग अनेक बड़े-बड़े कार्य कर बैठते हैं। किन्तु आदमी की प्रत्येक छोटे-मोटे कार्य में श्रद्धा देखने पर ही ठीक-ठीक आदमी पहचाना जाता है।

(१६) (एक महिला खूब सजधजकर उन्हें देखने आयी थी। उस महिला को लक्ष्यकर उन्होंने कहा) देखो, स्त्रियों के लिए लज्जा ही है भूषण। देवता की सेवा में लगने पर ही फूल सबसे अधिक सार्थक होता है; नहीं तो उसका पेड़ पर सूख जाना ही अच्छा है। किन्तु मुझे यह देखकर बड़ा कष्ट होता है कि जब बाबू लोग कभी फूल तोड़ा करते हैं, कभी इस प्रकार हाथ में लेकर नाक के समीप एक बार रखकर कहते हैं—'वाह, खूब सुगन्ध है!' ओ माँ, दूसरे ही क्षण उसे मलकर फेंक देते हैं। जूते से ठोकर मारकर चल देते हैं। आँखों से देखते तक नहीं।

(१७) मनुष्य के मन पर आघात करनेवाली बात क्या बोलनी चाहिए? बात सच्ची होने पर भी उसे अप्रिय रूप में नहीं बोलना चाहिए। बाद में ऐसा ही स्वभाव हो जाता है। मनुष्य की आँखों की लाज के मिट जाने पर फिर मुख में कुछ रुकता नहीं। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) कहते थे, "किसी लंगड़े से यदि पूछना हो कि तुम लंगड़े कैसे हो गये? तो ऐसे पूछना चाहिए—'तुम्हारे पाँव इस प्रकार मुड़ कैसे गये'?"

(१८) संसार में कितने प्रकार के लोग होते हैं। सब सहनकर रहना होगा। ठाकुर कहते थे. 'श, ष, स—तीन स हैं। जो सहता है वही रहता है।"

(१९) ठाकुर के सत्य की क्या सीमा थी? हमलोगों में उनकी तरह का कौन हुआ? ठाकुर कहते थे, 'कलियुग में सत्य ही तपस्या है। सत्य को पकड़े रहने पर भगवान को पाया जा सकता है।'

(२०) घर में रसोई के सारे सामान हैं, (किन्तु) रसोई पकाकर खाना होगा। जो जितना पहले पकायेगा वह उतना ही पहले खा पायेगा। कोई सवेरे खाता है, कोई शाम को, कोई आलस्य के कारण रसोई पकाने के भय से उपवास करता है।······जो जितना अधिक साधन-भजन करता है वह उतना ही शीघ्र दर्शन पाता है। चूँकि हमेशा साधन-भजन नहीं कर पाते हो अतः ईश्वर का कार्य समझकर कार्य करने की आवश्यकता है।

(२१) (किस प्रकार ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है?) केवल उनकी कृपा से होगी। लेकिन ध्यान-जप

करना होगा। उससे मन का मैल कटता है। पूजा, जप-ध्यान—ये सब करने होंगे। जैसे फूल को हिलाने-डुलाने से सुवास निकलता है, चन्दन घिसते-घिसते गन्ध बाहर निकलती है उसी प्रकार भगवत्तत्त्व का विवेचन करते-करते तत्त्वज्ञान का उदय होता है। यदि वासना रहित हो पाओ तो अभी ईश्वर-लाभ होगा।

(२२) कार्य अवश्य करना चाहिए। काम करने से मन ठीक रहता है। तब भी जप-ध्यान और प्रार्थना की भी विशेष आवश्यकता है। अन्ततः सुबह-शाम एकबार बैठना ही होगा! यह हुआ जैसे नाव का मस्तूल होता है। सायंकाल थोड़ा बैठने से पूरे दिन में क्या अच्छा किया, क्या नहीं किया इसका विचार आता है। इसके बाद विगत काल के मन की अवस्था के साथ आज की अवस्था की तुलना करनी होगी। काम-काज के साथ सुबह-शाम ध्यान नहीं करने से क्या करते हो, क्या नहीं करते हो, यह कैसे समझोगे?

(२३) सर्वदा उनका (भगवान का) स्मरण-मनन कर प्रार्थना करनी होगी, 'प्रभु, सद्बुद्धि दो।' हर घड़ी जप-ध्यान कितने आदमी कर पाते हैं? पहले थोड़ा करता है। ......बैठकर मन को संयमित नहीं कर पाने से काम करना काफी अच्छा है। मन को संयमित नहीं करने से ही मन अनेक प्रकार के उपद्रव करता है।

(२४) जैसे जल है, जिसका स्वभाव ही नीचे की ओर जाना है, उसे भी सूर्य की किरण आकाश में खींच लेती है, उसी प्रकार मन का तो स्वभाव ही नीचे की ओर—भोग की ओर—जाना है। उसे भी भगवान की कृपा ऊर्ध्वगामी कर लेती है।

(२५) उनका स्मरण कर खाना-पीना। जो कुछ खाना, भगवान को देकर खाना। अप्रसादी अन्न नहीं खाना चाहिए। जैसा अन्न खाओगे वैसा रक्त बनेगा। शुद्ध अन्न खाने से शुद्ध रक्त होगा, मन शुद्ध होगा, शरीर में बल होगा। शुद्ध मन में शुद्ध भक्ति होती है, प्रेम होता है।

(२६) भगवान-लाभ होने से और क्या होता है? क्या दो सींगें निकल आती है? नहीं, मन शुद्ध होता है। शुद्ध मन से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

(२७) मनुष्य अभी है, अभी नहीं है। कुछ भी साथ नहीं जायगा। एकमात्र धर्म-अधर्म ही साथ जायेंगे। पाप-पुण्य मृत्यु के बाद भी साथ जाते हैं।

(२८) ईश्वर के ऊपर निर्भर होकर रहना होगा। उन्हें अच्छा करना है, करें; डुबाना है, डुबाएँ। तब भी अच्छे कार्य करते जाना होगा। और वह भी, वे जैसी शक्ति दें, उसी के अनुसार।

(२९) ईश्वरेच्छा के बिना कुछ होना संभव नहीं—एक तृण भी नहीं हिलता।

(३०) ईश्वर ही जीव जन्तु सब बन गये हैं तथापि संस्कार और कर्म के अनुसार सभी अपने-अपने कर्म-फल का भोग करते हैं। सूर्य एक हैं, किन्तु स्थान और वस्तु भेद से उनका प्रकाश भिन्न-भिन्न रूप का होता है।

(३१) भगवान के लिए कौन सब कुछ त्याग कर पाता है? ईश्वर के शरणागत होने से विधि का विधान खंडित हो जाता है। भगवान-लाभ होने से और क्या होता है? क्या दो सींगें निकल आती हैं? नहीं, सत्-असत् का विवेक आता है, ज्ञान-चैतन्य होता है, जन्म-मृत्यु के पार हुआ जाता है।

(३२) श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "जिसे है, वह दान करे; जिसे नहीं है, वह जप करे (भगवान का नाम—स्मरण करे)। यह भी नहीं कर पाये तो शरणागत हो। —मात्र इतना ही मन में धारण किये रखने से हो गया कि मुझे एक आदमी देखने वाले हैं, एक माँ है या एक पिता जी हैं।

(३३) ईश्वर के निकट रो-रोकर मन का दुःख उन्हें सुनाना। व्याकुल हो रो-रोकर कहो, "ठाकुर, मुझे अपनी ओर कर लो, मुझे शान्ति दो।" इस प्रकार करते-करते तुम्हारे प्राणों में स्वतः शान्ति आयगी।

(३४) साधन करते-करते देखोगे कि जो मेरे भीतर हैं, वही तुम्हारे भीतर भी हैं। कहार, बागदी और डोम के भीतर भी वही हैं। तभी तो मन में दीन-भाव आयेगा।

(३५) मन पागल हाथी के समान है। वह वायु के समान वेग से निकलता है। इसी से सत्-असत् का विचार कर सब कुछ देखना होगा और भगवान के लिए खूब खटना होगा।

(३६) मनुष्यों में किसकी कितनी बुद्धि है ? क्या चाहते क्या चाहने लगेगा, इसका क्या ठिकाना है ? बाद में शिव की मूर्ति गढ़ते-गढ़ते बन्दर बना लेगा। उनके शरणागत होकर रहना ही अच्छा है। जब जैसी आवश-यकता है वे वैसी वस्तु देंगे। तथापि भक्ति और अनासक्ति की कामना करनी होगी—ऐसी कामना, कामना नहीं है।

(३७) कितने सौभाग्य से माँ, यह जन्म मिला है। पर्याप्त रूप से भगवान का नाम लेती जाओ। ईश्वर-प्राप्ति के लिए खटना होगा, बिना परिश्रम के क्या कुछ होता है ? सांसारिक काम-काज के बीच भी एक समय निर्धारित कर लेना होगा—भगवान का नाम-जप करने के लिए।

(३८) इन्द्रिय संयम चाहिए। यह जो विधवाओं के लिए इतनी सारी व्यवस्थाएँ हैं, सब इन्द्रिय संयम के लिए ही हैं।

(३९) उस आदिकाल से कितने लोग मूर्त्ति की उपा-सना कर मुक्ति पाते आ रहे हैं, क्या वह कुछ नहीं है ? ब्रह्म सभी वस्तुओं में हैं। तथापि क्या जानते हो ? —साधु पुरुषगण सब आते हैं मनुष्य को रास्ता दिखाने, एक-एक आदमी एक-एक प्रकार की बात कहते हैं। मार्ग अनेक हैं, इसीसे उन सबकी बातें सच्ची हैं। जैसे एक वृक्ष पर उजले, काले, लाल अनेक रंग के पक्षी आकर बैठे हुए हरेक तरह की बोली बोलते हैं। सुनने में भिन्न होने पर भी सबको हमलोग पक्षी की बोली ही कहते हैं। एक ही पक्षी की बोली है, और अन्य सब पक्षी की बोली नहीं है—ऐसा हम नहीं कहते हैं।

(४०) तुम यदि ईश्वर को नहीं पुकारो,—और कितने लोग तो उन्हें याद ही नहीं करते हैं—इससे उनका क्या ? यह तो तुम्हारा ही दुर्भाग्य है। भगवान की ऐसी माया है कि वे ऐसा करके सबको भुलाये रखे हैं। ईश्वर सोचते हैं—वे सब प्रसन्न हैं, उन्हें इसी तरह रहने दो।'

(समाप्त)

विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास, ईश्वर में विश्वास, यही महानता का रहस्य है। यदि तुम पुराण के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाये हुए सब देवताओं में भी विश्वास करते हो पर यदि अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती ! अपने आप में विश्वास करो, उस पर स्थिर रहो और शक्तिशाली बनो।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-आन्दोलन की विशेषताएँ

—स्वामी सोमेश्वरानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

[स्वामी सोमेश्वरानन्द धर्म, अध्यात्म, दर्शन और संस्कृति को सामाजिक परिवेश एवम् लोक-जीवन के सन्दर्भ में परखकर उन्हें नयी चेतना की दृष्टि से पारिभाषित करते रहे हैं। अबतक उनके आधे दर्जन से अधिक ग्रंथ एवम् शताधिक निबंध प्रकाशित हो चुके हैं। इतिहास चिन्ताय विवेकानन्द, लोक जीवने श्रीरामकृष्ण, धर्म, कुसंस्कार ओ लोकाचार, मार्क्स ओ विवेकानन्द आदि उनके प्रमुख ग्रंथ हैं। 'लोकजीवने श्रीरामकृष्ण' में सोमेश्वरानन्द जी ने सर्वप्रथम विस्तार पूर्वक श्रीरामकृष्ण की साधना, उपदेश और आचार को लोकजीवन के परिप्रेक्ष्य में आँकने का संस्तुत्य प्रयास किया है। इस ग्रंथ में सर्वत्र उनकी गवेषणात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। 'लोकजीवने श्रीरामकृष्ण के कुछ अंशों का हिन्दी रूपान्तर हम क्रमशः प्रकाशित करेंगे। प्रस्तुत निबन्ध उन अंशों की पहली किश्त है। —सं०]

धर्म और सामाजिक प्रतिबद्धता

कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि स्वामी विवेकानन्द ने अपने समाजसेवा के आदर्श में अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण का अनुसरण नहीं किया। श्रीरामकृष्ण ने साधन-भजन और व्यक्तिगत मुक्ति के ऊपर जोर दिया था। इसके विपरीत स्वामीजी ने पश्चिमी देशों की ईशाई मिशनरियों के अनुसरण में भारत में इस कर्मयज्ञ का प्रवर्त्तन किया था।

इस प्रकार की धारणा में कोई सार नहीं है। सबसे पहले तो संघबद्ध संन्यासियों का समाजसेवा का आदर्श ही पश्चिमी नहीं है। इतिहास में सर्वप्रथम भारतवर्ष ने ही यह दृष्टान्त अपनाया। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों ने जो विभिन्न शिक्षा संस्थानों और चिकित्सा केन्द्रों की स्थापनाकर समाजसेवा का कार्य आरम्भ किया था, उसका उदाहरण संसार के इतिहास में इसके पहले नहीं देखा जाता है। पश्चिमी देशों की ईसाई मिशनरियों ने इसीका अनुसरण किया था। स्वामीजी ने इसी प्राचीन भारतीय आदर्श को ही नवीन भाव से जीवनदान दिया था। दूसरी बात यह कि जो यह कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण कामकाज या सेवाकार्य के विरोधी थे, उन्होंने उनकी जीवनचर्या का गंभीर भाव से अध्ययन नही किया है। युवक नरेन्द्रनाथ से जब उन्होंने प्रश्न किया था—'तुम क्या चाहते हो ?" और नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया था—'शुकदेव की भाँति निर्विकल्प समाधि में डूबा रहना" तब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा था, "तुम इतने स्वार्थपरायण हो !" वस्तुतः उन्होंने बार-बार नरेन्द्रनाथ को लोकशिक्षा देने की बात कही थी। नरेन्द्र इसके लिए राजी नहीं होते थे। उन्होंने कहा था, "(लोकशिक्षा का कार्य) कर नहीं पाऊँगा।" श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा था 'कर नहीं पाऊँगा क्या रे ! तुम्हें करना ही होगा।" नरेन्द्रनाथ ने कभी भी लोकशिक्षा या समाज-सेवा का व्रतधारी नहीं होना चाहा। किन्तु उनके गुरु ने उन्हें नहीं छोड़ा, बार-बार इस कार्य के लिए उन्हें उत्प्रेरित किया। काशीपुर की मृत्युशय्या पर रहते हुए अपने हाथ से लिख दिया था, "नरेन शिक्षा देगा, जब घर और बाहर से पुकार होगी।" श्रीरामकृष्ण की संन्यासिनी शिष्या गौरी माँ—१८ वर्ष की उम्र में संसार का त्याग कर अकेली हिमालय में कठोर तपस्या करती थीं। सारे भारत की पाँव-पैदल यात्रा की थी। वे जब दक्षिणेश्वर वापस आयीं, श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था, "तुमने काफी तपस्या की है, अब उस शक्ति को

नारियों की सेवा में लगाओ। इस क्षेत्र में नारियों की बड़ी दुर्दशा है। तुम इन लोगों की शिक्षा की व्यवस्था करो।''

केवल नरेन्द्रनाथ और गौरी माँ को ही नहीं, अपनी लीला-सह धर्मिणी को भी श्रीरामकृष्ण कार्य में उतारना चाहते थे। काशीपुर उद्यान भवन में माँ सारदा को उन्होंने एकदिन अनुरोध करते हुए कहा था, ''केवल मैं अकेला कार्य कर जाऊँगा, तुम कुछ नहीं करोगी ?'' माँ सारदा संकुचित होती हुई बोली थीं, 'मैं औरत हूँ। मैं क्या कर पाऊँगी !'' श्रीरामकृष्ण का उत्तर—''नहीं-नहीं, मैं क्या करता हूँ। तुम्हें इससे बहुत अधिक करना होगा। ......लोग अन्धकार में कीड़ों की तरह किल्‌बिल् कर रहे हैं। तुम उनलोगों को थोड़ा देखो।'' और जब गिरीश घोष ने प्रबल धर्मभाव की अनुप्रेरणा से प्रेरित होकर अभिनय-जगत् से विदा लेना चाहा था, तब श्रीरामकृष्ण ने ही उनसे कहा था, ''नाटक बन्द मत करो। उससे लोक शिक्षा होती है।'' स्वामी विवेकानन्द जब भारत-भ्रमण में रत थे तभी उनका साक्षात्कार हुआ उनके भावी संन्यासी शिष्य शरत्‌चन्द्र गुप्त (परवर्त्ती काल में स्वामी सदानन्द) से। उनसे स्वामीजी ने कहा, ''देखो बच्चा, मेरे गुरु (श्रीरामकृष्ण) मुझ पर एक कार्य का भार दे गये हैं। वे दो समस्याओं की बात कह गये हैं—एक आध्यात्मिक अवनति और दूसरी मनुष्य की दरिद्रता। इन दोनों समस्याओं के निराकरण का कार्य करने का दायित्व उन्होंने मुझे दिया है। इसके करने तक मुझे छुट्टी नहीं है।''

जीवन में दो बार उनके हृदय से गंभीर क्रन्दन फूट पड़ा था। प्रथम बार वे रोये थे ईश्वर के लिए—'माँ, एक दिन और बीत गया, तुमने दर्शन नहीं दिये।'' और दूसरी बार रोये थे मनुष्य के लिए; दक्षिणेश्वर में कोठे पर खड़े होकर ऊँचे स्वर से रो-रोकर वे कहते थे—''अरे, तुम लोग कौन कहाँ हो, आओ।'' उस पुकार का उत्तर मनुष्यों ने दिया था। उनके समीप जीवन-सत्य प्रकाशित हुआ था इस रूप में कि मनुष्य और ईश्वर पृथक् नहीं हैं, बल्कि एक ही सत्ता विभिन्न रूपों में प्रकाशित है। इसीसे नरेन्द्रनाथ, राखाल और बाबूराम के भीतर उन्होंने जिस तरह 'नारायण' को देखा था उसी तरह 'माँ' को देखा था वेश्याओं के भीतर भी। इसीसे १९वीं शताब्दी के शिक्षित-संभ्रान्त बाबूलोगों द्वारा प्रचारित कठोर नीतिवाद का पालन नहीं कर उन्होंने आश्रय दिया था समाज के पतित नर-नारियों को। शराबी, पतिता, गुण्डा, पागल—कोई भी उनके स्नेह से वंचित नहीं हुआ। जीवन और जगत को श्रीरामकृष्ण ने पूर्णरूप से ग्रहण किया था। वे जानते थे कि संसार केवल नित्य सिद्ध और भले लोगों को लेकर ही नहीं सिरजा गया है। यहाँ हर प्रकार के मनुष्य हैं। संसार को समग्र रूप में ग्रहण करने से सबको ग्रहण करना होगा। फिर, जीवन तो केवल पुष्पाच्छादित पथ नहीं है! यहाँ सुख-दुःख, आनन्द-वेदना सभी हैं। इसीसे उन्होंने अपने भतीजे की मृत्यु हो जाने पर उसके निकट खड़े होकर मृत्यु को देखा, स्वयं कैन्सर से आक्रान्त होकर भी 'माँ' के समीप आरोग्य की कामना नहीं की। जीवन के सम्बन्ध में यही उनकी दृष्टिभंगी थी। सम्पूर्णजीवन के प्रवक्ता थे वे। प्रचण्ड पौरुष का स्वामी हुए बिना मनुष्य इस सम्पूर्ण जीवन को ग्रहण नहीं कर पाता। एक ओर पुरुषसिंह की भाँति वीर्यवान निर्भीक चरित्र और दूसरी ओर माँ की भाँति असीम ममता और स्नेह लेकर अवतरित हुए थे श्रीरामकृष्ण।

आन्दोलन का सामाजिक विन्यास

रामकृष्ण-भावान्दोलन को यद्यपि मुख्य रूप से रामकृष्ण मिशन ने ही आगे बढ़ाया है तथापि इसका मूल स्रोत श्रीरामकृष्ण की जीवनचर्या ही है। उनके दक्षिणेश्वर में रहने के समय विभिन्न सामाजिक स्तर के लोग उनके समीप आते थे और प्रकृत रूप में उस समय से ही इस आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। श्रीरामकृष्ण के निकट जो लोग आते थे, विशेषकर उनके अनुरागीगण, उनमें सबका नाम नहीं प्राप्त होने पर भी, विभिन्न पुस्तकों में खोज करने पर हम लोग दो सौ से कुछ ही कम नाम पाते हैं। जातिगत स्तर के हिसाब से आनुमानिक स्वरूप मोटा-मोटी इस प्रकार है—ब्राह्मण २३·५ प्रतिशत, कायस्थ २६·५ प्रतिशत, सुवर्ण वणिक १६ प्रतिशत, वैद्य ५·५ प्रतिशत, तपशील जाति २४·५ प्रतिशत एवं अन्यान्य लोग ४ प्रति-

शत। पेशा या कार्य की दृष्टि से इन लोगों का स्वरूप इस प्रकार है—छात्र १४ प्रतिशत साधु और धर्म नेता ९.५ प्रतिशत, प्रथम श्रेणी की मेवा 'वृत्ति वाले ८ प्रतिशत, जमींदार ३ प्रतिशत, बुद्धिजीवी १९ प्रतिशत, व्यवसायी १.५ प्रतिशत समाजसेवी ११ प्रतिशत, शिल्पी ९.५ प्रतिशत, गृहवधू १५ प्रतिशत एवं अन्यान्य २ प्रतिशत।

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि मूलतः निम्न मध्यवित्त श्रेणी के लोग ही अधिकतर उनके पास जाते थे। जाति की दृष्टि से कायस्थों की संख्या ही अधिक थी, ब्राह्मण और तपशील जाति के लोग प्रायः समान संख्या में थे। स्मरण रखना होगा कि इन ब्राह्मणों में अधिक लोग ब्रह्मसमाजी थे, जिनमें विजयकृष्ण गोस्वामी, शिवनाथ शास्त्री, त्रैलोक्यनाथ सान्याल प्रमुख थे। भाटपाड़ा, दक्षिणेश्वर और कलकत्ता के हिन्दू ब्राह्मण लोग उनके समीप अधिक नहीं जाते थे। इसका कारण यह था कि शूद्राणी (रानी रासमणि) की नौकरी करने से श्रीरामकृष्ण अपनी 'जाति' खो चुके थे। दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा का आलोक जिनके भीतर प्रवेश कर गया था उन्हीं ब्राह्म और अब्राह्मण हिन्दुओं का एक विराट् अंश उनके समीप जाता था। पेशागत दृष्टि से भी बुद्धिजीवी-समाजजीवी लोग उनके अनुरागी थे। अतएव, कहा जा सकता है कि संख्या कम रहने पर भी जातिगत और पेशागत दृष्टि से समाज के सभी स्तरों के लोग उनके पास जाते थे। कट्टर रूढ़िवादी ब्राह्मणगण जो उनके पास नहीं जाते थे उसका कारण था श्रीरामकृष्ण का कट्टर रूढ़िवादिता से मुक्त चरित्र। विशेषतः शूद्राणी की नौकरी करना, अपना अहंकार मिटाने के लिए अपने सिर के बालों से मेहतर के घर का पाखाना साफ करना, जहाँ-तहाँ खा लेना आदि घटनाओं के कारण श्रीरामकृष्ण को वे लोग 'म्लेच्छ' ही समझते थे। फिर जमींदार और बड़े लोग उन्हें भद्र दृष्टि से नहीं देख पाते थे। रानी रासमणि को खुलेआम चाँटा मार देना, माथुर बाबू की जमींदारी से बाहर होकर प्रजा लोगों का कर माँफ करने के लिए जोर करना, कई जमींदारों एवं भूस्वामियों के सम्बन्ध में प्रकट रूप से विरुद्ध मंतव्य देना आदि घटनाओं को उन लोगों ने भली दृष्टि से नहीं ग्रहण किया। जो माथुरबाबू उन पर इतनी श्रद्धा रखते थे वे भी उनके अवतारत्व पर बार-बार सन्देह प्रकट करते थे (भैरवी ब्राह्मणी द्वारा श्रीरामकृष्ण को अवतार घोषित करने पर उन्होंने अपना मन्तव्य देते हुए कहा था—"अवतार तो दस से अधिक नहीं हैं।" विचार सभा में पण्डितों द्वारा 'श्रीरामकृष्ण में अवतार के शास्त्रीय लक्षण हैं, ऐसा कहकर उसे खुले रूप में स्वीकार करने पर भी माथुरबाबू ने इस विषय को सहज भाव से नहीं ग्रहण किया। श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व को जिन लोगों ने मुक्त कंठ से जोर देकर स्वीकार किया था वे थे चिनु शांखारी (चूड़ी बेचनेवाली), भैरवी ब्राह्मणी और गिरीश घोष।)

१८९७ ई० की १ मई को रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। मिशन के आरम्भ मे ही जो लोग इस आन्दोलन से गम्भीर रूप में जुड़े थे उनमें श्रीरामकृष्ण के संन्यासी और गृही शिष्य एवं स्वामीजी के संन्यासी शिष्यों की सामाजिक पटभूमिका देखी जाय (स्वामीजी के गृही शिष्यों में कई के नाम उपलब्ध नहीं हैं)। इन लोगों में विख्यात ४३ व्यक्तियों में २८ व्यक्ति ही संन्यासी थे। संन्यासी होने के पूर्व १८ व्यक्ति ही छात्र थे (१२ व्यक्ति कॉलेज के और ६ व्यक्ति स्कूल के) एक व्यक्ति लघु व्यवसायी, एक व्यक्ति घरेलू नौकर, ७ व्यक्ति नौकरी करते थे। (४ व्यक्ति गैर सरकारी और ३ व्यक्ति सरकारी कार्यालय में) और १ व्यक्ति संवादवाहक थे। १५ गृही भक्तों में ४ व्यक्ति ऑफिस में नौकरी करते थे, ३ व्यक्ति डॉक्टर थे, १ व्यक्ति संवादवाहक, १ व्यक्ति पुस्तक प्रकाशक, १ व्यक्ति जमीन्दार, ३ व्यक्ति शिक्षक और २ व्यक्ति अभिनेता थे। यद्यपि कई राजे-महाराजे स्वामीजी के अनुरागी थे तथापि खेतड़ी के राजा और महीशपुर के राजा के अतिरिक्त अन्य राजाओं ने इस आन्दोलन में विशेष भाग नहीं लिया। वस्तुतः धनी व्यक्तियों की सहायता रामकृष्ण मिशन ने बहुत कम पायी है। कलकत्ता के प्लेग पीड़ितों के रिलीफ के लिए रुपयों के अभाव के कारण स्वामीजी ने बेलुड़ मठ की जमीन को बेच देना चाहा था, १९०१ ई० मे मठ में प्रतिमा की दुर्गापूजा होने के उपरान्त १० वर्षों तक पूजा हुई थी दुर्गा के चित्र की, क्योंकि प्रतिमा खरीदने के लिए रुपये नहीं थे। बागबजार

में उद्बोधन के भवन-निर्माण कराने के समय सारदानन्द जी को काफी रुपये उधार लेने पड़े। वे रुपये उन्होंने पुस्तकों की बिक्री कर लौटाये। बेलुड़ मठ में उन दिनों भोजन-वस्त्र का काफी अभाव था—ये सारी घटनाएँ प्रमाणित करती हैं कि रामकृष्ण मिशन ने धनी व्यक्तियों का विशेष सहयोग-समर्थन नहीं पाया। इस अवस्था में वर्त्तमान समय में भी विशेष बदलाव नहीं आया है। १९८० ई० की एक रिपोर्ट में देखा जाता है कि मिशन के विराट् कर्म-यज्ञ में धन की जो वार्षिक आवश्यकता होती है उसका १९·७% पाया जाता है केन्द्रीय और विभिन्न राज्य सरकारों के अनुदान से, शुल्कों और चार्जों से ११·५%, बेंक से सूद ४·९%, मकान भाड़ा से २%, पुस्तकों आदि की बिक्री से ६.७% एवं बाकी ५५·२% अर्थ का इन्तजाम होता है दान के माध्यम से (इसमें २·२% आता है विभिन्न दातव्य संस्थाओं से, विदेशी अनुरागियों से आता है ०.३% एवं ५२.७% आता है जन-साधारण के द्वारा खुदरा दान के माध्यम से)। वर्त्तमान समय में भारत के प्रथम श्रेणी के धनी और उद्योग-पतिगण रामकृष्ण मिशन को जो अर्थ-सहायता करते हैं वह काफी नगण्य है, १% भी नहीं है। उन लोगों में एक मात्र टाटा ही मिशन को कुछ दान देता है, वह भी केवल मिशन की जमशेदपुर शाखा को। समग्रगत रूप से कहा जा सकता है कि आरम्भ से ही रामकृष्ण आन्दोलन में जनबल और अर्थबल एकत्र करते रहे हैं मध्यवित्त और निम्न मध्यवित्त श्रेणी के लोग ही।

(क्रमशः)

"समुद्र की ओर बही जा रही नदी अपने नाम और रूप को त्यागकर समुद्र में विलीन हो जाती है, उसी तरह ज्ञानी नाम-रूप का त्याग कर दिव्य पुरुष में लीन हो जाते हैं।"

—मुंडकोपनिषद

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर

समर्पण

प्रस्तुति :—सुरेश कुमार प्रशांत

रुक्मिणी पंखा झल रही थीं। कृष्ण भोजन कर रहे थे। सहसा वाहर कुछ शोर सुनाई पड़ा और कृष्ण थाली छोड़ दरवाजे की तरफ भागे। रुक्मिणी रोकती रह गयीं मगर कृष्ण नहीं रुके। द्वार तक पहुँचे, फिर ठिठक गये और उदासीन होकर लौट आये। पुनः भोजन करने लगे।

रुक्मिणी कुछ समझ नहीं पायीं। बोलीं—वात क्या है? भागे-भागे गये, उदास होकर लौट आये। क्या कोई दुर्घटना हो गयी थी?

कृष्ण बोले—सचमुच दुर्घटना हो गयी थी। मेरा एक प्यारा भक्त सड़क से गुजर रहा था। लोग उसे पत्थर मार रहे थे। उसके सिर से खून की धारा चल रही थी। भीड़ से घिरा, खून में सना, वह सिर्फ मुझ पर भरोसा किये हँसता जा रहा था—विना किसी से एक शब्द बोले। जरूरत थी मेरी कि मैं वहाँ जाऊँ। पर, अफशोस! ज्यों ही मैं दरवाजे तक पहुँचा, मैं ने देखा, उसने पत्थर उठा लिया था। तब मैं ने सोचा, जब वह अपनी रक्षा खुद कर ही रहा है, तब मैं क्यों जाऊँ? जब तक वह वेसहारा था, अकेला था, उसे मेरी जरूरत थी। उसकी हर सहायता करना मेरा कर्त्तव्य था। पर, जब उसने पत्थर का सहारा ले लिया, अपने बल का सहारा ले लिया, तब मेरे सहारे की आवश्यकता ही कहाँ रह गयी? अब वह भीड़ से लड़ रहा है। वहां से मैं चुपचाप लौट आया। उसके लिये तो मैं तैयार ही था पर मुझ पर उसे विश्वास कहां था? दूसरा सहारा लेना ही उसके लिये वाधक वन गया। मुझे अफशोस है, मैं चाहकर भी उसके लिये कुछ कर नही पाया। उसका विश्वास डोल गया था।

—लोक महाविद्यालय
वनियापुर, सारण
(विहार)

पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।

— स्वामी विवेकानन्द

This is the gist of all worship—to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

SWAMI VIVEKANANDA.

बैद्यनाथ च्यवनप्राश
सदा सबके
लिए सेवनीय
स्फूर्ति
कफ खांसी
नाशक
यौवन
दिमागी ताजगी
विकास
बलवर्द्धक
स्पेशल
बैद्यनाथ
च्यवनप्राश
आदर्श आयुर्वेदिक
पारिवारिक टानिक
बैद्यनाथ च्यवनप्राश क्यों ?
क्योंकि यह ४० से ज्यादा जड़ी-बूटियों के तत्वों से बना ऐसे प्राकृतिक विटामिनों से भरपूर है जो मानव शरीर के लिए आसानी से पाचन योग्य है। रासायनिक प्रक्रिया से बनाये गये दूसरे टानिकों में यह गुण नहीं होता। इसके अलावा, बैद्यनाथ च्यवनप्राश आपके लिए और आपके परिवार के लिए अति आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक टानिक है क्योंकि यह है :
• विटामिन 'सि' से भरपूर
• कफ, खांसी, जुकाम नाशक
• कैल्शियम एवं खून की कमी के लिये
• ताजगी और तन्दुरुस्ती के लिये
• यौवन के लिये
• आयु व बलवर्द्धक
• त्रिदोष नाशक
बैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार करता है
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झांसी • नागपुर • इलाहाबाद
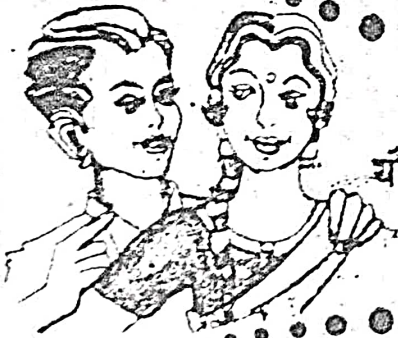
विवेक वाणी

(१)

"भय क्या है ? सदा विचार किया कर—यह शरीर, घर, जीव-जगत् सभी सम्पूर्ण मिथ्या है—स्वप्न की तरह है, सदा सोचा कर कि यह शरीर एक जड़-यन्त्र मात्र है। इसमें जो आत्माराम पुरुष है, वही तेरा वास्तविक स्वरुप है। मनरूपी उपाधि ही उसका प्रथम और सूक्ष्म आवरण है. उसके बाद देह उसका स्थूल आवरण बना हुआ है। निष्कल, निर्विकार, स्वयं ज्योति वह पुरुष इन सब मायिक आवरणों से ढका हुआ है इसलिए तू अपने स्वरूप को जान नहीं पाता है। रूप-रस की ओर दौड़ने वाले इस मन की गति को अन्दर की ओर लौटा देना होगा; मन को मारना होगा। देह तो स्थूल है—यह मरकर पंचभूतों में मिल जाती है, परन्तु संस्कारों की गठरी अर्थात् मन शीघ्र नहीं मरता। बीज की भांति कुछ दिन रहकर फिर वृक्ष रूप में परिणत होता है; फिर स्थूल शरीर धारण करके जन्म-मृत्यु के पथ में आया-जाया करता है। जब तक आत्म ज्ञान नहीं हो जाता तब तक यही क्रम चलता रहता है।

(२)

किस शास्त्र में एसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं होंगी ? भारत का अत: पतन उस समय हुआ जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेद पाठ का अनाधिकारी घोषित किया। और साथ ही, स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिये। नहीं तो वैदिक युग में, उपनिषद युग में, तू देख कि मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रात: स्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्मविचार से ऋषितुल्य हो गयी थीं। हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा ? एक बार जो हुआ है, वह फिर अवश्य ही हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्त हुआ करती है।

(३)

जिसे विश्वास नहीं है, उसे देखने पर भी कुछ नहीं होता। देखने पर सोचता है कि यह कहीं अपने मस्तिष्क का विकार या स्वप्नादि तो नहीं है ? दुर्योधन ने भी विश्वरूप देखा था, अर्जुन ने भी विश्वरूप देखा था। अर्जुन को विश्वास हुआ किन्तु दुर्योधन ने उसे जादू समझा ! यदि वे ही न समझायें तो और किसी प्रकार से समझने का उपाय नहीं हैं। किसी-किसी को बिना कुछ देखे सुने ही पूर्ण विश्वास हो जाता है और किसी को बारह वर्ष तक प्रत्यक्ष सामने रहकर नाना प्रकार की विभूतियाँ देखकर भी सन्देह में पड़ा रहना होता है। सारांश यह है कि उनकी कृपा चाहिए परन्तु लगे रहने से ही उनकी कृपा होगी।

— विवेकानन्द साहित्य : द्वितीय खंड से साभार

श्रीमती गंगादेवी द्वारा रामकृष्ण निलयम् जयप्रकाश नगर, छपरा से प्रकाशित एवं श्रीकान्त लाभ द्वारा जनता प्रेस, नयाटोला, पटना—४ से मुद्रित।